खण्ड 2
सामाजिक व्यवस्था

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खण्ड परिचय

B.A आनर्स का संस्कृत भारतीय सामाजिक संस्थान और राज्य–व्यवस्था BSKC 107 पाठ्यक्रम का यह द्वितीय खंड है, जिसका नाम 'सामाजिक व्यवस्था' है। इस खण्ड में तीन इकाईयां है। जिनमें सातवीं, नवीं तथा दसवीं इकाई शामिल है। इकाई सात में सामाजिक व्यवस्था के आधार, आश्रमव्यवस्था, महायज्ञ, पुरुषार्थ, वर्ण एवं जाति व्यवस्था (ऋ . 10/90/12 , महाभारत शान्तिपर्व 72/3–8 एंव जाति व्यवस्था, भ.गी. 4/13. 18/41–44, मनु 10/64 इत्यादि), इकाई नौ में स्त्रियों की स्थिति (महाभारत अनुशासनपर्व 46/5–11, सभा पर्व 69/4–13, वराहमिहिर की बृहत सहिंता में नारी प्रशंसा अध्याय 74/1–10), इकाई दस में – परिवार और विवाह विषय में हम यहाँ अध्ययन करेगें ।

तकनीकी और कठिन शब्दों को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक इकाई में आवश्यक शब्दावली दी गई है । साथ ही अध्ययन में सहायक उपयोगी पुस्तकों की सूची प्रत्येक इकाई के अन्त में दी गई है । इन पुस्तकों का सहयोग लेकर आप सम्बंधित विषय का और अधिक अध्ययन कर सकते हैं ।

शुभकामनाओं के साथ

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 7 सामाजिक व्यवस्था के आधार, आश्रमव्यवस्था, महायज्ञ, पुरुषार्थ, वर्ण एवं जाति व्यवस्था (ऋग्वेद 10/90/12, महाभारत शान्तिपर्व 72/3–8 एंव जाति व्यवस्था, भगवद्गीता 4/13. 18/41–44, मनुस्मृति 10/64 इत्यादि)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 सामाजिक व्यवस्था के आधार

- 7.2.1 आश्रमव्यवस्था
- 7.2.2 महायज्ञ
- 7.2.3 पुरुषार्थ
- 7.2.4 वर्ण एवं जाति व्यवस्था (ऋग्वेद– 10/90/12)
- 7.2.5 महाभारत शान्तिपर्व (72/3–8) वर्ण एंव जाति व्यवस्था
- 7.2.6 भगवद्गीता (4/13. 18/41–44)
- 7.2.7 मनुस्मृति (10/64)

7.3 सारांश

7.4 शब्दावली

7.5 बोध/अभ्यास प्रश्नोत्तर

7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको –

- भारतीय सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान होगा।
- आश्रम व्यवस्था के विषय में जान सकेंगे।
- गृहस्थ के पांच महायज्ञों के विषय में जान सकेंगे।
- चार प्रकार के पुरुषार्थों के विषय में जानेंगे।
- चार प्रकार के वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विषय में जान सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत 7वीं इकाई सामाजिक व्यवस्था के आधार है। वैदिक काल से ही भारतीय समाज को सुदृढ़ बनाने एवं सुव्यवस्थित रूप से जीवन पद्धति को चलाने तथा जीवन के मूल्यों को आदर्श रूप में स्थापित करने के लिए भारतीय ऋषि मनीषियों ने सामाजिक व्यवस्था के अनेक आधार स्तम्भों का उल्लेख किया है। जिनमें से यहां

आश्रम व्यवस्था के चारों सोपान ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास का उल्लेख किया गया है। वही जीवन में परोपकार और परार्थ के लिए किए जाने वाले एवं प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले पंच महायज्ञों का उल्लेख किया गया है उसके पश्चात जीवन के परम उद्देश्य चार पुरुषार्थों के विषय में बताया गया है। वहीं ऋग्वेद में वर्णित वर्ण एवं जाति व्यवस्था के आधार को बताया गया है महाभारत के शांति पर्व में उल्लिखित वर्ण एवं जाति के विषय का उल्लेख किया गया है। वही भगवद्गीता एवं स्मृति ग्रंथ में वर्णित वर्ण एवं जाति व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। ये सभी व्यवस्थाएं तत्कालीन समाज को सुदृढ़ बनाती थी और सम्पूर्ण समाज को सुचारु एवं सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण थी।

7.2 सामाजिक व्यवस्था के आधार

किसी भी सुव्यवस्थित समाज को चलाने के लिए उसके कुछ आधारभूत मानदण्ड होते हैं। यदि भारतीयों की सामाजिक स्थिति देखें तो वह वैदिक काल से ही सुदृढ़ एवं संपन्न रही है। यह हमें वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। जब हम वैदिक समाज को देखते हैं तो वहां हमें समाजिक उत्थान के लिए एवं सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए अनेक स्तंभों का उल्लेख मिलता हैं। उन आधारभूत स्तम्भों एवं व्यवस्थाओं में, जैसे आश्रम व्यवस्था का उल्लेख मिलता है जिसमें संपूर्ण जीवन को चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम, द्वितीय गृहस्थ आश्रम, तृतीय वानप्रस्थ आश्रम एवं चतुर्थ सन्यास आश्रम । आश्रम के इन चारों भागों को बराबर भागों में बांटा गया है। ऋग्वेद में अनेकों स्थलों पर ऋषियों द्वारा अपने लिए शतायु अर्थात सौ वर्षों की कामना की गयी है। इसीलिए आश्रम व्यवस्था के चारों भागों को पच्चीस पच्चीस वर्षों में बराबर रूप में विभाजित किया गया है।

यज्ञों की बात करें तो हमें वैदिक समय एवं वैदिक ऋचाओं में यज्ञों का उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है। और इसके लिए हम देखते हैं कि संपूर्ण यजुर्वेद यज्ञकर्म पर ही आधारित है। वैदिक ऋषियों नें सामाजिक जीवन में यज्ञ को विशेष महत्व दिया है। जिनमें नित्य–प्रतिदिन के नियमों के लिए वैदिक ऋषियों ने मुख्य रूप से (पञ्चमहायज्ञ) पांच महत्त्वपूर्ण यज्ञों का उल्लेख किया है। जिनमें 1 ब्रह्मयज्ञ, 2 देवयज्ञ, 3 पितृयज्ञ, 4 भूत यज्ञ (इसको बलिवैश्वदेव यज्ञ भी कहा गया है), 5 नृयज्ञ अर्थात मनुष्ययज्ञ इत्यादि पञ्च महायज्ञों का वर्णन किया गया है।

भारतीय संस्कृति परम्परा में जीवन के उद्देश्यों के रूप में पुरुषार्थचतुष्टय को महत्व दिया गया है, जिनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य सदैव ही प्रयत्नशील रहा है। इन चार पुरुषार्थों में पहला धर्म की प्राप्ति, दूसरा अर्थ की प्राप्ति, तीसरा काम की प्राप्ति और चौथा पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है। इस प्रकार से जीवन के लक्ष्य के रूप में पुरुषार्थ चतुष्टय एक महत्वपूर्ण बिन्दु बन जाता है जिसके लिए मनुष्य निरन्तर कर्म करता रहता है।

वर्ण एवं जाति व्यवस्था – वैदिक काल में सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित एवं भलीभांति चलाने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार से समाज को ऋषियों द्वारा चार वर्णों में विभाजित किया गया। इन चारों वर्णों का अपना–अपना महत्व है। इनमें ब्राह्मण वर्ण का कार्य ज्ञान, शिक्षा तथा उपदेश आदि देना, क्षत्रिय वर्ण का कार्य दुष्ट लोगों से सज्जनों की रक्षा तथा बाहरी आक्रमणकारियों से अपने समाज

एवं राष्ट्र की रक्षा करना था। वहीं वैश्यवर्ण का कार्य संपूर्ण समाज के लिए भोजन इत्यादि का प्रबन्ध एवं व्यापार आदि कार्य संभालना था जिससे सामाजिक अर्थव्यवस्था भली प्रकार से चलें। अंतिम में शूद्र वर्ण के विषय में कहा गया है। तत्कालीन समाज में शूद्र उन्हें कहा जाता था जो किसी भी कार्य को करने में समर्थ नहीं थे। न शिक्षा और ज्ञान दे सकते थे, न किसी की रक्षा कर सकते, न ही व्यापार करने में समर्थ थे, जो किसी भी कार्य को करने में अत्यंत प्रमाद करते थे, जो हमेशा ही मलिन रहते थे, इस प्रकार की अकर्मण्य जाति एवं वर्ण को वहां पर शूद्र कहा गया। परन्तु ऐसे प्रमाद युक्त मनुष्यों के लिए भी महर्षियों नें सेवा का कार्य सौंपा ताकि वे अपने जीवन यापन करने के लिए सेवा कार्य से धनार्जन करें। इस प्रकार शूद्रों का मुख्य कार्य था कि वे ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य–इन तीनों वर्णों की सेवा रूप में कार्य करें। इस प्रकार से सेवा का दायित्व शूद्र वर्ण के हाथों में था और सामाजिक व्यवस्था को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए चारों ही वर्णों का महत्व था।

स्त्रियों की दशा एवं प्रशंसा – भारतीय वैदिक सभ्य समाज में स्त्रियां हमेशा से ही प्रमुख एवं सबसे आगे रही हैं। उनका हमेशा से ही समाज में महत्वपूर्ण योगदान रहा वह किसी भी प्रकार पुरुषों से पीछे नहीं रही। हर क्षेत्र में उनका अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति वैदिक काल में सुदृढ़ एवं संपन्न थी। वैदिक समाज में स्त्रियों का विदुषी के रूप में, योद्धा के रूप में, तपस्विनी के रूप में अनेक स्थानों पर उनका उल्लेख मिलता है और अनेक स्थलों पर स्त्रियों की भूरि–भूरि प्रशंसा का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार से यहां पर संक्षिप्त रूप में सामाजिक व्यवस्था का प्रारूप उपस्थित करने का प्रयास किया गया है , सामाजिक व्यवस्था को विस्तृत रूप में जानने के लिए हम इन सभी महत्वपूर्ण बिंदुओं का आगे उल्लेख करेंगे। जिससे हमें तत्कालीन समाज के प्रारूप एवं व्यवस्था का ज्ञान होगा।

7.2.1 आश्रम–व्यवस्था

आश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति की प्रमुख देन है। ऋषियों ने मनुष्य की आयु कम से कम शतायु अर्थात् सौ वर्ष की हो इसके लिए प्रकृति एवं परमात्मा से प्रार्थना की है जो कि ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा में प्रस्तुत किया गया है–

'पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं,
शतम्प्रब्रवाम शरदः, शतम दीनाः स्याम शरदः, शतं भूयश्च शरदः शतात् ।।

अर्थात् सौ वर्षों तक हमारी नेत्रेन्द्रियाँ देखें , हम सौ वर्षों तक जीएं, हमारी कर्णेद्रियाँ सौ वर्षों तक सुनें, हम सौ वर्षों तक बोलने में समर्थ रहें, हम सौ वर्षों तक दीन अवस्था से बचे रहें, ये सभी सौ वर्षों के बाद भी निरन्तर बने रहें केवल सौ वर्षों तक ही नहीं अपितु उसके आगे भी निरोगी रहते हुए अपने जीवन को धारण करें।

इसी प्रकार इस दीर्घकालिक जीवन को सुव्यवस्थित एवं सुचारु रूप से चलाने के लिए ऋषियों नें सम्पूर्ण जीवन को चार भागों में विभाजित किया जिसको "आश्रम" नाम दिया गया। ऋषियों ने जीवन के प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा, जीवन के दूसरे भाग को गृहस्थ आश्रम, तीसरे भाग को वानप्रस्थ तथा चौथे भाग को सन्यास आश्रम का नाम दिया। ये चारों आश्रम व्यक्ति के जीवन में अति महत्वपूर्ण है। इन्हीं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन में चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है जिनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के लक्ष्य माने गए हैं ये पुरुषार्थ चतुष्टय चारों आश्रमों के बिना पाना अत्यन्त कठिन है।

1. ब्रह्मचर्य आश्रम

ऋषियों ने 25 वर्ष की आयु तक की अवस्था को ब्रह्मचर्य आश्रम नाम दिया है। इस ब्रह्मचर्य अवस्था में मनुष्य को अपने जीवन के सभी पठन–पाठन, वेदाध्ययन आदि शैक्षणिक कार्यों को कर लेना चाहिए। ऋग्वेद में आश्रम व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता परन्तु उनके संकेत अवश्य मिलते हैं जिनमें ब्रह्मचारी, गृहपति (गृहस्थ) और मुनि तथा यति आदि शब्दों का उल्लेख किया गया है –

'येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविय'। (ऋग्वेद 8/3/9)
ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे । (ऋग्वेद 10/91/10)
'ब्रह्मचारी चरति वे विषद विषः सः देवानः भवत्येकमंगम् । (ऋग्वेद' 10/109/5)

ब्रह्मचर्य का अर्थ 'ब्रह्म' उपपद पूर्वक 'चर' धातु से उत्पन्न होना जिस का सामान्य हुआ 'श्रेष्ठ आचरण करना'। ब्रह्मचारी का जीवन तपस्या, त्याग, इंद्रियों का संयम, व्रत का पालन करता हुआ वेदाध्ययन करना और संघर्षमय जीवन में जो ज्ञान का अर्जन करता है, वही ब्रह्मचारी होता है। चारों आश्रमों में पहले आश्रम के रूप में ब्रह्मचर्य को स्थान दिया है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही मानव जीवन को श्रेष्ठ, आदर्श एवं सफल बनाने की मूल आधारशिला है। मनुष्य का संपूर्ण भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास ब्रह्मचर्य आश्रम से ही प्रारंभ होता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम के अंतर्गत ऋषि–मुनियों ने तीन संस्कारों का ग्रहण किया है जिनमें से उपनयन, वेदारम्भ एवं समावर्तन संस्कार बताए गए हैं। जिनमें ब्रह्मचर्य उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होकर समावर्तन संस्कार के साथ ही पूर्ण हो जाता है। जैसे ही शिशु का उपनयन संस्कार अर्थात (जनेऊ – धारण) होता है तब ही से उसका ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारंभ हो जाता है। जब शिशु का उपनयन संस्कार अर्थात यज्ञोपवीत संस्कार हो जाता है, तत्पश्चात ही वह द्विज कहलाता है। द्विज अर्थात दो जन्म हो गए हों जिसके दो जन्मों से तात्पर्य यह हुआ कि शिशु का प्रथम जन्म माँ के गर्भ से होता है और दूसरा जन्म तब माना जाता है जब वह ब्रह्मज्ञान अर्थात वेदाध्ययन के लिए यज्ञोपवीत धारण करता है इस प्रकार से ब्रह्मचारी द्विजन्मा हो गया। द्विज का दूसरा अर्थ ब्राह्मण भी होता है जिसने वेद–वेदांगों का अध्ययन प्रारंभ कर दिया हो। गुरुकुल में गुरु अपने शिष्य को वेदाध्ययन के साथ–साथ पवित्र आचरण की शिक्षा भी देता है। ब्रह्मचर्य आश्रम को ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के बालक ही धारण कर सकते थे केवल उनके लिए ही विद्याधन था। ब्रह्मचारी के लिए महाभारत में कहा गया है कि –

ब्रह्मचारी सदैवैषे य इंद्रियजये रतः। अपेतव्रतकर्मा तु केवलं ब्रह्मणि स्थितः ।।
ब्रह्मभूतश्चरनंलोके ब्रह्मचारी भवत्ययम् ।। म. भा. 14/76/15–16

अर्थात् ब्रह्मचारी को सदैव ही इन्द्रियों का संयम करके, व्रतपालन करके वेदाध्ययन करना चाहिए अर्थात ब्रह्म में स्थित होना चाहिए क्योंकि वेद ही ब्रह्म है और ब्रह्म के सम्बन्ध में ब्रह्म के साथ अपने स्वाभाव तथा आचरण को ढाल लेना ही ब्रह्मचर्य होता है।

वहीं महाभारत के शांति पर्व में ब्रह्मचारियों के जीवन को श्रेष्ठतम एवं आदर युक्त ब्रह्मस्वरूप माना गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु का सर्वोत्कृष्ट स्थान माना गया

है। ब्रह्मचारी सदैव ही गुरु के समीप रहता है और अध्यापन की प्रक्रिया मौखिक होने के कारण ब्रह्मचारी सदैव गुरुमुख से निकलती हुई वेदादि सहित ब्रह्मज्ञान का श्रवण करके अपने अंतःकरण में उस ज्ञान को धारण कर लेता था। ब्रह्मचारी के कर्तव्यों के विषय में महाभारत के निम्न पद्य में कहा गया है कि –

आहूताध्यायी गुरु कर्म स्वचोद्यरू, पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः, स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी।। म.भा. 1/91/2

अर्थात् – ब्रह्मचारी का कर्तव्य था कि वह गुरु के आदेश का पालन करें, गुरु की सेवा करें, गुरु की निन्दा न करें और न ही गुरु की निन्दा सुने, गुरु के सोने के पश्चात ही सोए, गुरु के प्रातः काल जगने से पहले स्वयं जग जाए, ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह जितेंद्रिय, धैर्ययुक्त, मृदुल स्वभाव तथा स्वाध्यायशील ब्रह्मचारी हो।

ब्रह्मचारी को किन किन विषयों का त्याग करना चाहिए इस विषय में गौतम धर्मसूत्र 2/14, 18, 19, 22, 23, 25 में कहते हैं कि ब्रह्मचारी को काम, क्रोध, विषयाशक्ति, नृत्य, संगीत, परनिन्दा, मद्यपान, जुआ खेलना, असत्यभाषण, स्त्री संसर्ग आदि इन सभी विषयों का ब्रह्मचारी को त्याग करना चाहिए और ब्रह्मचारी के लिए ये पूर्णतया वर्जित माने गए हैं।

तत्कालीन समाज में केवल बालक ही नहीं उनके साथ बालिकाएं भी वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करते थे। उस समय बालिकाओं का भी यज्ञोपवीत किया जाता था, बालिकाएं भी मेखला धारण करती थी "पुरकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते"। पत्न्यै व्रतोपनयनम्"। तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/3/3/2। बालिकाओं को गृहकार्य एवं ललित कलाओं की शिक्षा के साथ साथ एक सुयोग्य गृहिणी बनाया जाता था। जितना एक बालक के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक था उतना ही बालिकाओं के लिए भी ब्रह्मचारिणी रहना आवश्यक था 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' अथर्व वेद 11/5/18 । विवाह के विषय में जिस प्रकार स्नातक के बाद कुछ विद्यार्थी विवाह कर लेते थे तथा कुछ जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहते थे उसी प्रकार कुछ बालिकाएं स्नातक के पश्चात विवाह कर लेती थी जो 'सद्योद्वाहा' कही जाती थी और कुछ आजीवन ब्रह्मचारिणी रहती थी वे 'ब्रह्मवादिनी' कही जाती थी। ऐसी ब्रह्मवादि नियों में गार्गी, मैत्रेयी, अपाला , घोषा आदि प्रसिद्द नाम हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी के द्वारा पूर्ण शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात स्नान तथा समावर्तन संस्कार से ब्रह्मचर्य की समाप्ति करने के बाद प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति मानी जाती थी। उसके बाद विवाह संस्कार होता था जिससे ब्रह्मचारी के बाद गृहस्थ आश्रम शुरू हो जाता था। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम के मध्य का अंतराल कम तथा ज्यादा भी हो सकता था। जब ब्रह्मचर्य पूर्ण हो जाता था उसके बाद वह स्नातक कहलाता है। तदोपरांत गृहस्थाश्रम ग्रहण कर लेता है।

2. गृहस्थ आश्रम

गृहस्थ आश्रम के आरम्भ होते ही जीवन का दूसरा भाग आरम्भ हो जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में सभी प्रकार के अनुशासन का पालन करके ब्रह्मचारी गृहस्थ जीवन की विस्तृत एवं जटिल समस्याओं को सहजता से दूर कर सके इस प्रकार की क्षमता धारण करने के पश्चात ही व्यक्ति जीवन के द्वितीय गृहस्थ आश्रम रूपी

महत्वपूर्ण भाग में प्रवेश करता था। गृहस्थ आश्रम का निर्वहन करने वाले व्यक्ति के लिए था कि वह बौद्धिक एवं मानसिक रूप से प्रबुद्ध हो चरित्र, अनुशासन, संयम एवं नैतिकतापूर्ण जीवन हो, साथ ही साथ पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों को समझता हो। गृहस्थ आश्रम में ही व्यक्ति त्रिवर्गों की प्राप्ति एवं उनका यथोचित सेवन कर सकता था। क्योंकि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की प्राप्ति मनुष्य के गृहस्थ आश्रम जीवन में प्रवेश करने के पश्चात प्राप्त होते हैं। इनके अलावा गृहस्थ व्यक्ति के अपने अनेक उत्तरदायित्व होते हैं जिनको उसे निभाना पड़ता है प्रतिदिन उसे पंच महायज्ञों का संपादन करना पड़ता है । गृहस्थाश्रम में ही व्यक्ति ऋषि ऋण, देव ऋण तथा पितृऋण आदि–आदि से उऋण होता था। इन तीनों ऋण से उऋण होने के लिए मनुष्य को अनेक कर्म करने होते हैं जैसे ऋषिऋण से उऋण होने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत पालन और ज्ञान का प्रसार करना आदि कर्म , देवऋण से उऋण होने के लिए यज्ञादि कर्म करना तथा पितृऋण से उऋण होने के लिए उत्तम संतति की प्राप्ति आवश्यक थी।

3. वानप्रस्थ आश्रम

जीवन के तीसरे भाग में वानप्रस्थ आश्रम शुरू हो जाता है वानप्रस्थ अर्थात – वन में प्रस्थान। अमरकोष के अनुसार पूर्व की स्थितियों को त्याग कर वन की ओर जाना वानप्रस्थ कहलाता है (वनमेव प्रस्थो, वनस्य वा प्रस्थ प्रदेशः। वन प्रदेश भवः) अमरकोश पृ.– 251.3। वानप्रस्थी के लिए था कि वह अपने समस्त गृहस्थ कर्तव्यों को पूर्ण करके और अपनी संतानों को गृह के सभी दायित्वों को सौंप कर तत्पश्चात वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करें। वानप्रस्थ के विषय में मनुस्मृति में मनु कहते हैं कि –

गृहस्थस्तु यदा पश्येत् वलीपालित मात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।।

सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चौव परिच्छदम् । पुत्रेषुभार्यां निक्षिप्य वनं गछेत्सहैवं वा ।। (मनुस्मृति 5/2.3)

अर्थात् जब गृहस्थी अपने शरीर में झुर्रियों का आभास करें, जब उसके केश श्वेत हो जाएं, जब उसकी संतानों की संताने हो जाए तत्पश्चात ही वह वन गमन करें। गांव के भोजन को तथा घर के सभी पदार्थों का त्याग करके अपनी पत्नी को अपने संतानों का दायित्व सौंपकर अथवा अपनी पत्नी के साथ ही (जब संतान युवा हो और सभी जिम्मेदारियों को संभालने में समर्थ हो) ऐसी स्थिति में दोनों वन को जायें।

विष्णु पुराण 3/9/22 में कहा गया है कि "तपश्च तस्य राजेन्द्र शीतोष्णादिसहिष्णुता" अर्थात वानप्रस्थी को शीत और ऊष्ण को सहन करने की क्षमता वाला तपस्वी होना चाहिए। शरीर की शुद्धि तथा विद्या की दृष्टि से वानप्रस्थ आश्रम अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। गौतम धर्मसूत्र 3.25, 26, 28–30, 33, वानप्रस्थी जैसे–जैसे कठोर तपस्या करते जाता है वैसे–वैसे वह उत्तरोत्तर वृद्धि करता है, वानप्रस्थी को चाहिए कि वह मूलफल इत्यादि खाकर स्वयं के शरीर को तप में लगाए और गृहस्थी के सामान पञ्चयज्ञों को करते हुए अतिथियों का सत्कार करें।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वानप्रस्थी के विषय में कहते हैं कि – वानप्रस्थस्व ब्रह्मचर्य भूमौ शय्या जटाजिनधरणा अग्निहोत्राभिषेकौ देवतातिथिपितृपूजा वन्यश्चाहारः। अर्थात – वानप्रस्थी ब्रह्मचारी के समान ही भूमि पर सोते थे साथ ही जटाओं को धारण करते थे अग्निहोत्र आदि यज्ञ अभिषेक किया करते थे। ये देवता अतिथि तथा पितृपूजन किया करते थे। वन में प्राप्त होने वाले कन्दमूलादि फल ही इनका आहार था। वह इन सभी क्रियाओं को वन में रहकर ही किया करते थे। इस आश्रम में प्रवेश करने के पश्चात गांव में प्रवेश नहीं कर सकते थे। वानप्रस्थी को 'वैखानस' तथा 'परिव्राजक' नाम से भी जाना जाता था ।

4. संन्यास आश्रम

संन्यास जीवन का अंतिम भाग है। संन्यास अर्थात पूर्णरूप से सभी कर्मों एवं पदार्थों का त्याग कर देना संन्यास है। गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि –

काम्यानां कर्मणा न्यासं संन्यासं कावयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। (भगवद्गीता 18. 2)

अर्थात् जो लोग भौतिक काम्य कर्मों का तथा सभी प्रकार के कर्मों के फलों का न्यास अर्थात परित्याग करते हैं उन्हें विद्वान लोग संन्यासी कहते हैं। वशिष्ठ धर्मसूत्र 10/4 में संन्यास – सन्न्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न सन्न्यसेत् अर्थात केवल वेद को छोड़कर अन्य सभी कर्मों का त्याग कर देना संन्यास कहा जाता है।

महाभारत के शांतिपर्व में संन्यासी के विषय में अनेक वृतान्त प्राप्त होते हैं जिनमें कहा गया है कि – अनग्निरनिकेतश्च ग्रामरमन्नार्थमाश्रयेत् (म. भा. शा. पर्व 245. 4)। सन्यासी को न ही अग्नि की स्थापना करनी चाहिए और ना ही गृह का निर्माण करना चाहिए और अन्न की भिक्षा मांगकर अपने जीवन का निर्वहण ग्राम पर आश्रित रहकर करना चाहिए।

संन्यासी के लिए 'भिक्षु', 'यति' एवं परिव्राजक शब्द का प्रयोग भी किया गया है जैसे वायुपुराण में वर्ण है

"गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोथ भिक्षुकः।
रागिणां च विरागाणांञ्च यतीनां ब्रह्मचारिणाम्।। (वायुपुराण 59. 25य 104. 12)

संन्यासी अपने जीवन का भरण पोषण भिक्षाटन से करता था भिक्षा मांगना ही संन्यासी की वृत्ति थी इसीलिए संन्यासी को भिक्षु कहा गया वहीं कठोर यत्न और तपस्या करने के कारण संन्यासी को यति नाम से भी जाना जाता था संन्यासियों का कार्य भ्रमण करना था एक स्थान पर ही नहीं रहते थे इसलिए उन्हें परिव्राजक नाम से भी सम्बोधित किया गया।

7.2.2 महायज्ञ

वैदिक समय से ही यज्ञों का बहुत प्रचलन रहा है क्योंकि वेद ही हमें यज्ञों में प्रवृत्त करते हैं। भारतीय ऋषि–मुनियों ने यज्ञकर्म पर काफी जोर दिया है। सम्पूर्ण यजुर्वेद यागिक कर्मकाण्ड पर ही आधारित है और तत्कालीन समाज में यज्ञ करना केवल सामान्य कर्म करना नहीं था अपितु उसके कई वैज्ञानिक आधार भी थे। यज्ञ वातावरण

पर्यावरण शुद्धि का आधार था मंत्रोच्चारण से वाचिक एवं मानसिक शुद्धि साथ ही बुद्धि में स्मरण शक्ति का विकास एवं यज्ञ में आहुति देने से भौतिक वातारवण की शुद्धि एवं बड़ी से बड़ी महामारी का विनाश होता था। वैदिक काल से ही भारत में यज्ञ कर्म करना जीवन की सामान्य दिनचर्या थी। प्रत्येक व्यक्ति अग्निहोत्रादि कर्म करता था। परन्तु यज्ञों में भी पञ्च महायज्ञों का विधान गृहस्थियों के लिए विशेष रूप से कहा गया है। वह प्रत्येक व्यक्ति जिसने गृहस्थाश्रम प्रवेश कर लिया हो उसके लिए पंचमहायज्ञों को करना जरुरी बताया गया है, इसलिए भारतीय ऋषियों नें पंचमहायज्ञों को गृहस्थियों के नित्यकर्म के रूप में परिणित किया है। पंचमहायज्ञों का महत्त्व इसलिए भी अधिक हो जाता है क्योंकि इसका उद्देश्य स्वार्थ के लिए नहीं अपितु परमार्थ के लिए था सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति इन महायज्ञों का उत्तरदातित्त्व था देवताओं, अपने पूर्वज ऋषियों , पितरों , सभी जीवों एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति स्वकर्तव्यों का बौद्ध करना था उसका पालन करना था। अन्य वैदिक स्रोत – स्मार्त यज्ञों में पुरोहितों की आवश्यकता होती थी परन्तु इन पञ्च महायज्ञों को पुरोहित के बिना भी कोई भी गृहस्थी स्वयं कर सकता था इसलिए अन्य यज्ञों की अपेक्षा पंचमहायज्ञ सरल एवं सार्वभौमिक परोपकारार्थ थे। पांच महायज्ञों में – ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ(मनुष्ययज्ञ) ।

ब्रह्मयज्ञ

नित्य प्रतिदिन स्वाध्याय करना, वेदों का अध्ययन एवं सन्ध्यावन्दन, ईश्वरोपासना करना ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। वेदों के नित्य प्रतिदिन अध्ययन–अध्यापन से व्यक्ति के ज्ञान में निरंतर वृद्धि होती है। यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ का प्राचीन उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन वैदिक काल से ही वेदों का अध्ययन श्रुति परंपरा से होता आया है। इस वैदिक ज्ञान को निरंतर गुरु अपने शिष्य को देता जिसमें शिष्य अपने गुरु के मुख से वैदिक पाठ का श्रवण करता, पिता अपने पुत्र को देता जिसमें पुत्र अपने पिता से वैदिक पाठ का श्रवण करता, यह नित्य प्रतिदिन किया जाता था जिसकी प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप बुद्धि में स्मरण शक्ति का विकास होता था और वेद का अध्ययन भी निरंतर चलता रहता था। समयचक्र के परिवर्तन से वैदिक श्रुति के साथ–साथ ईश्वरस्तुति, गायत्रीपाठ, संध्योपासन–स्तुति आदि भी जुड़ते गए, इस प्रकार से वैदिक अध्ययन–अध्यापन एवं ईश्वरीय चिंतन ब्रह्मयज्ञ का कर्म एवं स्वरूप माना गया।

देवयज्ञ

देवयज्ञ में मुख्य रूप से देवताओं के प्रति यज्ञ आहुतियाँ दी जाती हैं। यह दैनिक अग्निहोत्र या हवन होता है। यज्ञ में जिन आहुतियों को दिया जाता है वे सामान्य न होकर विशेष होती हैं, क्योंकि ये आहुति रूपी सामग्री अनेक प्रकार की औषधियों से निर्मित होती हैं और औषधियों के साथ साथ यज्ञ में शुद्ध घृत की आहुतियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार औषधियों सहित शुद्ध घृत की आहुति देने से सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है। इस देवयज्ञ में प्रकृति स्वरूप देवताओं के प्रति जैसे सूर्य, अग्नि, इंद्र (वर्षा का स्वामी), प्रजापति, वायु आदि के लिए नित्य प्रतिदिन अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। जिसके परिणाम स्वरूप अग्नि में डाली गई औषधियों से युक्त आहुतियाँ अग्निधूम के माध्यम से सूर्य तक पहुंचती हैं जो सूर्य के प्रभाव से मेघ स्वरूप को धारण करते हुए संपूर्ण पृथ्वी को वर्षा के द्वारा धन–धान्य से पूरित करती हैं। इस प्रकार से गृहस्थी व्यक्ति के द्वारा किया जाने वाला यह देवयज्ञ कर्म केवल स्वयं के लिए ही लाभदायक नहीं है अपितु संपूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए किया जाता है।

पितृयज्ञ

पितृयज्ञ मनुष्य अपने पूर्वजों और पितरों के प्रति करता आया है। जिसके लिए मनुष्य तर्पण आदि क्रिया कर्म करता है। अपने पूर्वजों की शांति के लिए अपनी श्रद्धा से ब्राह्मणों को भोजन कराता है। अपने पितरों के प्रति श्रद्धा होने के कारण ब्राह्मणों को भोजन कराने तक इस पूरी प्रक्रिया को ऋषि–मुनियों ने श्राद्ध नाम दिया है। ऐसा नहीं था कि मनुष्य केवल अपने मृत पूर्वजों की सेवा और उनके प्रति श्रद्धा थी अपितु पितृयज्ञ में पूर्वजों के साथ साथ जो उनके वृद्ध जन हैं, माता–पिता हैं, गुरुजन आदि हैं उनके प्रति भी श्रद्धा का भाव रखते हुए उनकी सेवा करना, उनका आदर एवं सम्मान करना यही वास्तव में पितृयज्ञ का यथार्थ स्वरूप था।

भूतयज्ञ

भूत यज्ञ का दूसरा नाम बलिवैश्वदेव यज्ञ भी है। भूत अर्थात् जीव, प्राणी, इनके लिए अलग से भोजन रखना भूतयज्ञ कहलाता है। जब मनुष्य स्वयं के लिए पाकशाला में भोजन बनाता है तब उसका यह दायित्त्व होता है कि वह अपने भोजन के कुछ अंश को मन्त्रोच्चारण के साथ अग्नि को समर्पित करें, कुछ अंश गौ के लिए रखें कुछ अंश श्वान (कुत्ते) के लिए रखें, कुछ अंश पक्षियों कौवें आदि के लिए रखें, इस प्रकार सभी भूतों अर्थात् जीवों के प्रति मनुष्य का दायित्त्व बनता है कि भूतयज्ञ कर्म करें। यह भूतयज्ञ विधि मनुष्य को उसके जीवन में त्यागपूर्वक भोग करने की शिक्षा देता है। भूतयज्ञ के कर्म से मनुष्य में स्वार्थ को छोड़कर सभी जीवों के प्रति परोपकार की भावना पैदा होती है।

नृयज्ञ/मनुष्ययज्ञ

नृयज्ञ अर्थात अतिथि सेवा। अतिथि शब्द का अर्थ है जिसकी आने की कोई तिथि न हो। भारतीय संस्कृति में अतिथि को देव तुल्य माना गया है इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है "अतिथि देवो भव"। जब कोई अतिथि घर में आता है उसका आदर सत्कार किया जाता है और उसके सत्कार के लिए आसन, जल, भोजन इत्यादि दिया जाता है। यदि कोई गृहस्थ गरीब भी हो, खाने के लिए अतिथि के लिए भोजन उपलब्ध न हो, तो भी उस अतिथि के लिए आसन और जल देने के साथ साथ मधुर एवं शिष्ट वचनों से अतिथि का सत्कार करना चाहिए। स्मृति धर्म–शास्त्रों में अतिथि सत्कार का अनेक स्थानों पर वर्णन प्राप्त होता है। महाभारत में अतिथि का अनादर करने से क्या होता है यह प्रस्तुत पद में वर्णित है–

अतिथिर्यस्य भग्नाशौ गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ।। (महाभारत 12/191/12)

अर्थात् अतिथि जिस घर से निराश होकर लौटता है, उस घर के समस्त पुण्यों को वह हर ले जाता है और पाप को दे देता है ।

अतिथि सत्कार के विषय में हमें कठोपनिषद में भी वर्णन प्राप्त होता है जैसे –

आशा प्रतीक्षे संगत सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् व्रिंते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे।।
(कठोपनिषद 1.1.8)

अर्थात् जिस घर में अतिथि का अपमान किया जाता है और उसका सत्कार नहीं किया जाता उस घर में रहने वाले ऐसे अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों की आशा, प्रतीक्षा, श्रेष्ठ

पदार्थों की प्राप्ति, सत्संगति, उत्तम वाणी, उस घर में किए गए यज्ञ और उन यज्ञों से प्राप्त होने वाला फल, समाज के लिए किया गया परोपकार एवं उनसे प्राप्त होने वाला फल तथा पुत्र एवं पशु आदि सभी को वह अपूजित अपमानित अतिथि नष्ट कर देता है ।

7.2.3 पुरुषार्थ

मुख्य रूप से भारतीय संस्कृति में मनुष्य द्वारा जीवन में प्राप्त किये जाने वाले पुरुषार्थचतुष्टय का वर्णन अनेक स्मृति आदि धार्मिक एवं व्यवहारिक ग्रंथों में प्राप्त होता है। जिनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य जीवनभर प्रयत्नशील रहता है वह पुरुषार्थ कहे जाते हैं। भारतीय साहित्य में चार प्रकार के पुरुषार्थ माने गए हैं जिनमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष हैं। कई विद्वान इनमें से मोक्ष को छोड़कर केवल तीन ही मानते हैं और ये 'त्रिवर्ग' के नाम से भी जाने जाते हैं जिनमें धर्म, अर्थ और काम हैं। परन्तु आज भी जब हम देखते हैं तो भारत ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में जो भी व्यक्ति प्रयत्न करता है उसके जीवन के सभी उद्देश्य इन चारों पुरुषार्थों में समाविष्ट हो जाते हैं।

धर्म

वैदिक मनीषियों एवं धर्मशास्त्रकारों ने धर्म की अनेकों प्रकार से परिभाषाएं दी हैं अनेकों लक्षण बताएं हैं। मनु धर्म के लक्षण का उल्लेख करते हैं –

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम् ।। (मनु स्मृति 2/12)

अर्थात वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का अचार तथा जिस आचरण को करने से स्वयं का मन प्रसन्न हो, इस प्रकार से मनु ने धर्म के साक्षात चार प्रमाण माने हैं।

वहीं महाभारत में धृ शब्द अर्थात धारण करना शब्द से बना है । जैसे–

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।। (महाभारत, कर्णपर्व 109/58)

अर्थात् जो धारण किया जाये वो धर्म है ऐसा धर्म जो प्रजा को धारण करें जिसमें सम्पूर्ण प्रजा को एकसूत्र में बांधने की धारण करने की क्षमता हो निश्चय ही वह धर्म है।

वेदस्मृतियों में कहते हैं कि मनुष्यों के लिए जो कर्म निर्दिष्ट हैं उनका निष्ठापूर्वक पालन करना ही धर्म है। इस प्रकार से मनुष्य को चार पुरुषार्थो में धर्म का पालन धर्म का रक्षण करना चाहिए जिससे मनुष्य जीवन की सार्थकता सफलता और शोभा के आचरण से हो। वास्तव में धर्म जीवन की सभी सफलताओं की कुंजी है। धर्म प्रथम होने से यह सभी पुरुषार्थों का द्वार है। धर्माधर्म के वास्तविक ज्ञान होने से ही मनुष्य सन्मार्ग की ओर अग्रसर हो सकता है जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य इस जीवम में मुक्त हो सकता है।

अर्थ

धर्म के पश्चात दूसरे पुरुषार्थ के रूप में अर्थ को ग्रहण किया गया है। अर्थ से ही मनुष्य भौतिक और पारलौकिक सभी प्रकार के प्रयोजनों की सिद्धि करने में समर्थ होता है। क्योंकि अर्थ ही ऐसा पुरुषार्थ है जिसके द्वारा ही इह–लौकिक कार्य सिद्ध

किए जाते हैं। सभी प्रकार के उपभोगों की आपूर्ति, शारीरिक आरोग्यता और धार्मिक कार्यों को करने में समर्थ अर्थ रूपी पुरुषार्थ होता है इसीलिए सभी मनुष्यों की अर्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है। अर्थ "अर्थ्यते सर्वैः इति अर्थः" अर्थात जिसको प्राप्त करने की अभिलाषा सभी मनुष्य में होती है उसे अर्थ कहा गया है।

वही आचार्य चाणक्य ने धर्म का मूल कारण अर्थ को कहा है। जिसमें वह कहते हैं "**सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूल मथर्रू**" (चाणक्य सूत्र 1. 1. 2) अर्थात प्राणियों की सुख समृद्धि का मूल 'धर्म' है, धर्म का मूल 'अर्थ' है। कौटिल्य ने त्रिवर्ग– धर्म, अर्थ, काम जिसमें से धर्म और काम का मूल "अर्थ" को बताया है।

मनु उचित मार्ग से और अनुचित मार्ग से संग्रहीत अर्थ के विषय में कहते हैं कि –

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्म चाप्य सुखोदर्क लोक विक्रुष्ट मेव च ।। (मनुस्मृति 4/176)

अर्थात् यदि धर्म और काम को हानि पहुंचाने वाला अर्थ हो तो उसका त्याग कर लेना चाहिए इसलिए अर्थ की प्राप्ति के लिए किए जाने वाला प्रयास धार्मिक होना चाहिए अर्थात् अच्छे कार्यों से अर्थ का अर्जन करना चाहिए।

इस प्रकार अर्थ रूपी पुरुषार्थ सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इसी से धर्म किया जाता है और धर्म से सुख की प्राप्ति होती है। परन्तु अर्थोपार्जन भी शास्त्रविहित अर्थात् उचित रीति से होना चाहिए, और इसका उपयोग भी धार्मिक कार्यों में हो, अर्थ का सदुपयोग हो , तभी जीवन में अर्थोपार्जन करना सार्थक होगा।

काम

पुरुषार्थों में चौथे पुरुषार्थ का नाम काम है। यह सम्पूर्ण सृष्टि काम जन्य है मनुष्य की सभी प्रकार की अभिलाषाएं, वासनायुक्त बुद्धि का आच्छादन, आसक्तिरूप युक्त प्रवृत्तियाँ आदि सभी काम के अंतर्गत आती हैं। काम का सामाजिक आधार जीवन की निरन्तरता को दर्शाता है। जैसे समाज में विवाह संस्कार के माध्यम से पति–पत्नी का सम्बन्ध, साथ ही प्रजनन के माध्यम से पारिवारिक तथा सामाजिक निरन्तरता आदि उद्देश्यों की पूर्ति । श्रीमद्भागवद् काम के विषय में कहा गया है कि –

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिलोभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।। (श्रीमद्भागवद् – 1.2.10)

अर्थात् काम का फल इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं, उसका प्रयोजन केवल जीवन का निर्वाह करना है । विषयों के उपभोग से कभी भी इन्द्रियां तृप्त नहीं हो सकती। अतः इस शरीर का ध्यान रखते हुए उतना ही काम का सेवन करें जितना स्वास्थ्य ठीक बना रहे। इसके अत्यधिक और अनुचित सेवन से जीवन का पतन होता है, बुद्धि का नाश होता है, इसीलिए महत्त्वकांक्षाओं को वश में कर जितेन्द्रिय होना चाहिए।

मोक्ष

मोक्ष शब्द मुक्त धातु से बना है जिसका अर्थ मुक्त करना अथवा स्वतंत्र करना आदि होता है। वही आत्मा की मुक्ति के लिए भी मोक्ष कहा गया है। मोक्ष को चारों पुरुषार्थ में चौथा पुरुषार्थ माना गया है जिसे परम पुरुषार्थ भी कहा जाता है। यह अत्यंत आनंद की अनुभूति की स्थिति होती है जीवन के किसी भी लक्ष्य की कल्पना मोक्ष से ऊपर करना संभव नहीं है क्योंकि मानव जीवन का परम लक्ष्य ही मोक्ष को प्राप्त करना होता है–

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसा क्षयात पापस्य कर्मणः।
कषायो कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ।।

7.2.4 वर्ण एवं जाति व्यवस्था (ऋग्वेद 10/90/12)

वर्तमान में वर्ण तथा जाति व्यवस्था का जो आधार है उसका मूल रूप ऋग्वेद के दसवें मंडल के 90वें सूक्त पुरुष सूक्त में देखने को मिलता है। यह पञ्च दार्शनिक सूक्तों में से एक है और अत्यन्त प्रसिद्द है। इसमें विराट पुरुष से संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। वहां वर्ण एवं जाति व्यवस्था का आधार और तत्कालीन समाज को विराट पुरुष के रूप में परिकल्पित किया गया है। विराट पुरुष के भिन्न–भिन्न अंगों से ऋषि महर्षियों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इस प्रकार से चार वर्णों (जाति) की उत्पत्ति मानी है। जैसे

ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।। (ऋग्वेद 10/90/12)

ब्राह्मण इस विराट पुरुष का मुख है, क्षत्रिय इस विराट पुरुष की भुजाएं हैं, वैश्य इसकी जंघाएँ हैं और इस विराट पुरुष के पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं ।

अर्थात् जिस प्रकार एक स्वस्थ और आरोग्य शरीर में सभी अंग महत्त्वपूर्ण होते हैं जिनसे सम्पूर्ण जीवन गति सुखपूर्वक और सहजता से प्रवाहित होती है उसी प्रकार तत्कालीन समाज को समृद्ध स्वस्थ और सुचारुरूप से चलने के लिए मर्ध्षियों नें चार मुख्य भागों में विभाजित किया जिनकी समानता विराट पुरुष के मुख्य और महत्त्वपूर्ण अंगों से की गयी ।

7.2.5 महाभारत शान्तिपर्व 72/3–8 एंव जाति व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था के विषय में महाभारत में अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। परंतु यहां पर महाभारत के शांति पर्व में उल्लिखित वर्ण व्यवस्था का उल्लेख करेंगे। किस प्रकार से ब्रह्मा के शासन में चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई, चारों वर्णों की व्यवस्था की गई, जो कि बाद में जाति व्यवस्था के नाम से भी प्रचलित हुई। वहां जो संवाद रूप में प्रश्नों के माध्यम से पुरुरवा द्वारा वायुदेव से पूछा जाता है उन्हें हम प्रस्तुत पदों में देख सकते हैं।

पुरूरुवा उवाच –

कुतः स्वीद् ब्राह्मणो जातो वर्णाश्चापि कुतस्त्रयः।
कस्माच्च भवति श्रेष्ठस्तन्मे व्याख्यातृमर्हसि ।। (महाभारत , शान्तिपर्व – 72/3)

पुरूरवा ने वायुदेव से प्रश्न किया कि – हे वायुदेव ब्राह्मण कहाँ से उत्पन्न हुआ है , और तीनों वर्ण भी कहाँ से उत्पन्न हुए हैं और ब्राह्मण जाति किस लिये श्रेष्ठ मानी जाती है , इस प्रकार से तुम मुझे बताएं ।3।

मातरिश्वोवाच –

ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तमः।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्टो ऊरुभ्यां वैश्य एव च ।। (वहीं – 72/4)

वायु देव ने कहा कि – हे श्रेष्ठ राजन् ! ब्राह्मण की सृष्टि (उत्पत्ति) ब्रह्मा के मुख से , भुजाओं से क्षत्रिय और जंघाओं से वैश्य वर्ण की सृष्टि उत्पन्न हुए हैं ॥4॥

वर्णानां परिचर्यार्थे त्रयाणां भरतर्षभ।
वर्णश्चतुर्थः सम्भूतः पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः ।। (वहीं – 72/5)
अर्थात

हे भरतवंशी श्रेष्ठ राजन् ! तीनों वर्णों की सेवा करने के लिये चौथा शूद्र वर्ण ब्रह्मा के चरणों में से उत्पन्न हुआ है ॥5॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामनु जायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये ।। (वहीं – 72/6)
अर्थात,

जन्म से ही ब्राह्मण सभी प्राणियों का महाराज होकर उत्पन्न होता है और वह धर्मरूपी कोष की रक्षा करने के लिये ही उत्पन्न होता है ॥6 ॥ अतः

पृथिव्या यन्तारम क्षत्रियं दण्डधारणे ।
द्वितीयं वर्ण मकरोत् प्रजानांमनुगुप्तये ।। (वहीं – 72/7)
अर्थात,

पृथ्वी पर राज्य करने के लिये, शिक्षा रूपी दण्ड धारण करने के लिये, उसी प्रकार सभी (प्राणिमात्र की) सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा के लिये, दूसरे दण्ड के समान क्षत्रियों को उत्पन्न किया गया है ॥7 ॥

वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन् वर्णान् विभृयादिमान् ।
शूद्रो ह्येतां परिचरेदिति ब्रह्मानुशासनम् ।। (वहीं – 72/8)
अर्थात,

वैश्य धन–धान्य से तीनों (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं शूद्र) वर्णों का भरण–पोषण करे और शूद्र ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करे, ऐसी ब्रह्मा की आज्ञा है ॥8 ॥

7.2.6 भगवद्गीता (4/13.18/41–44)

वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विषय में जब हम गीता में पढ़ते हैं तो वहां भगवान कृष्ण स्वयं के लिए कहते हैं कि उन्हीं के द्वारा चारों वर्णों का समूह, गुण तथा कर्मों के विभाग पूर्वक निर्मित किया गया है। उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। जैसे –

चारों वर्णों की उत्पत्ति के विषय में निम्न श्लोक में बताया गया कि –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ (भगवद्गीता 4/13)

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चार वर्णों का समूह, गुण एवं कर्मों के क्रमशः विभाजन से मेरे द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। इस प्रकार उस सृष्टि रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी मुझ अव्यय रूप अविनाशी परमात्मा को तू वास्तव में अकर्ता ही समझ ॥

कर्मस्वभाव गुणों से युक्त वर्ण –
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ (भगवद्गीता 18/41)

हे परमतप ! कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्रों का विभाजन किया गया है ॥

यहाँ ब्राह्मण का कर्म एवं स्वाभाव बताते हैं –

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ (भगवद्गीता 18/42)
अर्थात,

मन का निग्रह करना, इन्द्रियों का दमन करना, धर्म पालन के लिये कष्ट सहना, बाह्यन्तर से पवित्र रहना, क्षमा योग्य अपराधों को क्षमा करना, मन, इन्द्रिय एवं शरीर को सरल रखना, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन– अध्यापन करना उनमें श्रद्धा रखना और परमेश्वर के परमतत्त्व का अनुभव करना– ये सभी ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं ॥

यहाँ क्षत्रिय का कर्म एवं स्वाभाव बताते हैं –

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ (भगवद्गीता 18/43)
अर्थात,

शौर्य से युक्त, वीर्यवान, तेज, धैर्य, चातुर्यता तथा युद्ध में भी न भागना, दान देना और स्वामिभाव – ये सभी क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं ॥

यहाँ वैश्य एवं शूद्र का कर्म एवं स्वभाव बताते हैं –

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ (भगवद्गीता 18/44)
अर्थात,

खेती करना, गौ का पालन करना और क्रय – विक्रयरूप सत्य व्यवहार – ये सभी वैश्य के स्वाभाविक कर्म मानें गए हैं तथा शूद्र का स्वाभाविक कर्म सब वर्णों की सेवा करना है ॥

7.2.7 मनुस्मृति (10/64)

शूद्रायां ब्राह्मणाजातः श्रेयसा चेप्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमायुगात् ॥10/64॥
अर्थात,

ब्राह्मण से शूद्रा कन्या हो, वह कन्या ब्राह्मण से विवाहित हो, उसकी भी कन्या हो और वह भी ब्राह्मण को दी जाय , इस प्रकार से करते हुए सातवीं पुस्त (पीढ़ी) में जो पुरुष उत्पन्न होगा , उसका पूर्वज पारशव होने पर भी वह पुरुष ब्राह्मण माना जाता है।

7.3 सारांश

वैदिक काल से ही भारतीय समाज को सुदृढ़ बनाने एवं सुव्यवस्थित रूप से जीवन पद्धति को चलाने तथा जीवन के मूल्यों को आदर्श रूप में स्थापित करने के लिए भारतीय ऋषि मनीषियों ने सामाजिक व्यवस्था के अनेक आधार स्तम्भों का उल्लेख किया है। जिनमें से यहां आश्रम व्यवस्था के चारों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास का उल्लेख किया गया है। वही जीवन में परोपकार और परार्थ के लिए किए जाने वाले एवं प्रतिदिन प्रयोग में आने वाले पंच महायज्ञों का उल्लेख किया गया है, उसके पश्चात् जीवन के परम उद्देश्य चार पुरुषार्थों के विषय में बताया गया है। वहीं ऋग्वेद में वर्णित वर्ण एवं जाति व्यवस्था के आधार को बताया गया है। महाभारत के शांति पर्व में उल्लिखित वर्ण एवं जाति के विषय का उल्लेख किया गया है। वही भगवद गीता एवं स्मृति ग्रंथ में वर्णित वर्ण एवं जाति व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। ये सभी व्यवस्थाएं तत्कालीन समाज को सुदृढ़ बनाती थी और सम्पूर्ण समाज को सुचारु एवं सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण थी।

7.4 शब्दावली

अतिथि – जिसकी कोई तिथि न हो/ असमय ही किसी का गृह में प्रवेश करना

नृयज्ञ – मनुष्य यज्ञ

उरू – जंघा

राजन्य – क्षत्रिय

वाणिज्यम – व्यापार

धृति – धैर्य

7.5 बोध/अभ्यास प्रश्नोत्तर

1. आश्रम कितने माने गए हैं?

   A- 2

   B- 4

   C- 6

2. ब्राह्मण की उत्पत्ति विराट पुरुष के किस अंग से मानी गई है?

   A- मुख

   B- उदर (पेट)

   C- भुजाओं से

3. वाणिज्य व्यापार कौन से वर्ण का कार्य था ?

   a. ब्राह्मण

   b. क्षत्रिय

   c. वैश्य

4. पुरूषार्थ कितने प्रकार के कहे गए हैं?

   a. 3

   b. 8

   c. 4

उत्तर – 1- B, 2- A, 3- C, 4- C

7.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- ऋग्वेद सुबोध भाष्य – श्रीपाददामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, गुजरात ।
- भगवद्गीता – गीता प्रेस गोरखपुर।
- मनुस्मृति – आचार्य मनुकृत, व्या. – उर्मिल रस्तोगी, जे पी पब्लिश हाउस, दिल्ली।
- महाभारत – श्रीपाददामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, बलसाड़, गुजरात।
- भारतीय संस्कृति – डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल, राजस्थानी ग्रन्थागार, सोजती गेट जोधपुर।
- भारतीय संस्कृति – डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी ।
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी ।
- संस्कृत साहित्य का इतिहास – शशि तिवारी, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली।

इकाई 8 षोडश संस्कार और मूल्य

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 संस्कार शब्द का अर्थ

8.3 संस्कार के प्रयोजन

8.4 संस्कारों के प्रकार

8.5 संस्कारों की संख्या

8.6 षोडश संस्कार

- 8.6.1 गर्भाधान संस्कार
- 8.6.2 पुंसवन संस्कार
- 8.6.3 सीमन्तोन्नयन संस्कार
- 8.6.4 जातकर्म संस्कार
- 8.6.5 नामकरण संस्कार
- 8.6.6 निष्क्रमण संस्कार
- 8.6.7 अन्नप्राशन संस्कार
- 8.6.8 चूडाकरण संस्कार
- 8.6.9 कर्णवेध संस्कार
- 8.6.10 विद्यारम्भ संस्कार
- 8.6.11 उपनयन संस्कार
- 8.6.12 वेदारम्भ संस्कार
- 8.6.13 केशान्त संस्कार
- 8.6.14 समावर्तन संस्कार
- 8.6.15 विवाह संस्कार
- 8.6.16 अन्त्येष्टि संस्कार

8.7 मूल्य – सांस्कृतिक मूल्य, नैतिक मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य और व्यवहारिक मूल्य

8.8 सारांश

8.9 शब्दावली

8.9 बोध/अभ्यास प्रश्न

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के अनन्तर आप –

- भारतीय संस्कृति में संस्कारों के महत्त्व को जान सकेंगे।
- भारतीय समाज में संस्कारों की आवश्यकता और प्रयोजन को परिभाषित कर सकेंगे।

- संस्कारों की संख्या के विषय में विभिन्न मतों पर संवाद कर सकेंगे।
- संस्कारों के सम्पन्न करने के बारे में जान सकेंगे।
- संस्कारों की प्राचीनता और वैज्ञानिकता को जान सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति संस्कार प्रधान संस्कृति है। हमारे ऋषियों मुनियों ने मानव जीवन को चार पुरुषार्थों की उपलब्धि का साधन माना है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है कि वह इन पुरुषार्थों की प्राप्ति का प्रयास करे। इसके लिए उसे संस्कारवान् होना आवश्यक है। अतः आचार्यों ने जन्म के पूर्व से लेकर मृत्युपर्यन्त संस्कारों की व्यवस्था दी है। ये संस्कार मानव के दोषों का परिमार्जन करते हैं तथा उनमें दैवी शक्ति का आधान कर उन्हें पूर्णता प्रदान करते हैं। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि संस्कार से रहित मानव का जीवन अपूर्ण ही रहता है।

संस्कारों की संख्या को लेकर शास्त्रों में वैमत्य दिखायी देता है। कुछ आचार्य 45 संस्कारों का निर्देश करते हैं, तो कुछ 25, 10, 13, 18 आदि संस्कारों का उल्लेख करते हैं। विद्वानों ने समाज की मान्यता के अनुसार षोडश संस्कारों को मान्यता दी है। इन षोडश संस्कारों में प्रायः सभी संस्कारों का अन्तर्भाव हो जाता है। इस इकाई में आप इन संस्कारों के बारे में अध्ययन करेंगे।

8.2 संस्कार शब्द का अर्थ

संस्कार शब्द सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है –**संस्क्रियते अनेन**, जिससे कोई वस्तु संस्कृत, परिष्कृत, विमल या शुद्ध की जाती है, उसे संस्कार कहते हैं। भारतीय संस्कृति में संस्कारों का अत्यधिक महत्त्व है। मनुष्य की नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए तथा उसमें बल, वीर्य, प्रज्ञा और दैवीय गुणों के आविर्भाव के लिए शास्त्रों में संस्कारों का विधान किया गया है। कोई भी व्यक्ति इन संस्कारों से ही द्विजत्व को प्राप्त करता है। जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र ही होता है किन्तु इन संस्कारों के कारण ही वह द्विज की कोटि में आता है –**जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।** संस्कार का अर्थ है दोषों का परिमार्जन। संस्कार मनुष्य के दोषों को परिमार्जित कर उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थों के योग्य बनाते हैं। शबर स्वामी ने संस्कार शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है –**संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कश्चिदर्थस्य।** अर्थात् संस्कार उसे कहते हैं, जिसके सम्पन्न होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य बन जाता है। तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने भी संस्कारों को परिभाषित किया है। उनके अनुसार जो क्रियाएँ तथा विधियाँ किसी कर्म को योग्यता प्रदान करती हैं, उन्हें संस्कार कहते हैं –**योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कार इत्युच्यन्ते।** मेदिनी कोश के अनुसार संस्कार शब्द के तीन अर्थ हैं – प्रतियत्न, अनुभव, मानसकर्म। काशिकावृत्ति में **"उत्कर्षाधानं संस्कारः"** कहा गया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कारों के माध्यम से समाज अपने जीवन मूल्यों को सुरक्षित रखता है तथा उनके प्रति सदैव निष्ठावान् बना रहता है।

8.3 संस्कार के प्रयोजन

संस्कार हमारे जीवन के विभिन्न पक्षों को आलोकित करता है। हमारे दोषों को दूर कर हमारे अन्तःकरण में गुणों का आधान करता है। इस प्रकार दोषमार्जन और गुणाधान करता हुआ संस्कार हमारी कमियों को दूर करता है। कतिपय विद्वान् संस्कारों के दो प्रयोजन मानते हैं – 1. दोषापनयन तथा 2. गुणाधान किन्तु विद्वानों का एक वर्ग उसके तीन प्रयोजन मानता है – 1. दोषमार्जन, 2. अतिशयाधान तथा 3. हीनांगपूर्ति (संस्कारप्रकाश, पृ. 13)। सारांशतः संस्कारों को इस प्रकार समझा जा सकता है – जिस प्रकार खान से निकलने के बाद भी कोई रत्न संस्कार के अनन्तर ही तेजस्विता और अपना वास्तविक मूल्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार मानव भी संस्कारों से तेजस्विता आदि प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बनाता है। संस्कार हमारे जीवन के अशुभ प्रभावों को दूर करते हैं तथा हमें विभिन्न प्रकार की लौकिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ प्रदान करते हैं।

8.4 संस्कारों के प्रकार

संस्कारों की संख्या के विषय में विद्वानों में मतभेद है किन्तु उन संस्कारों को अधोलिखित तीन भेदों मे वर्गीकृत किया जा सकता है –

1. प्राग्जन्म संस्कार – गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन।
2. बाल्यावस्था के संस्कार – जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध।
3. शिक्षा सम्बन्धी संस्कार – विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन।
4. विवाह संस्कार।
5. अन्त्येष्टि संस्कार।

विद्वानों ने इन संस्कारों के अन्तर्गत विभिन्न शास्त्रों में कहे गए संस्कारों को परिगणित किया है।

8.5 संस्कारों की संख्या

संस्कारों की लोक प्रसिद्ध संख्या यद्यपि सोलह है तथापि शास्त्रों में इसके और भी भेदों की चर्चा है। जातुकर्ण्य ऋषि ने जिन सोलह ब्राह्म संस्कारों का उल्लेख किया है वे निम्नवत् हैं –

आधान.पुंस.सीमन्त.जात.नामान्न.चौलकाः
मौञ्जी वृतानि गोदान.समावर्त.विवाहकाः।
अन्त्यं चैतानि कर्माणि प्रोच्यन्ते षोडशैव तु।।

जातुकर्ण्य के अनुसार 1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमन्तोन्नयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. अन्नप्राशन, 7. चूडाकरण, 8. उपनयन, 9. वेदारम्भ, 10. ब्रह्मव्रत, 11. वेदव्रत, 12. गोदान, 13. समावर्तन, 14. विवाह, 15. ब्राह्मव्रत और 16. अन्त्यकर्म, ये षोडश संस्कार हैं।

आश्वलायनगृह्यसूत्र में कुल दस संस्कार माने गए हैं – 1. विवाह , 2. गर्भाधान, 3. पुंसवन, 4. सीमन्तोन्नयन, 5. जातकर्म, 6. नामकरण, 7. चूडाकरण, 8. उपनयन, 9. समावर्तन और 10. अन्त्येष्टि।

इस प्रकार यह देखा जाता है कि गृह्यसूत्रों में संस्कारों को लेकर मतैक्य नहीं है। अपने-अपने सम्प्रदाय को लेकर सभी गृह्यसूत्रों में संख्या का कथन किया गया है। बौधायन गृह्यसूत्र में तेरह संस्कार परिगणित हैं – 1. विवाह, 2. गर्भाधान, 3. पुंसवन, 4. सीमन्तोन्नयन, 5. जातकर्म, 6. नामकरण, 7. उपनिष्क्रमण, 8. अन्नप्राशन, 9. चूडाकरण, 10. कर्णवेध, 11. उपनयन, 12. समावर्तन और 13. पितृमेध।

पारस्कर गृह्यसूत्र में भी तेरह संस्कार कहे गए हैं, किन्तु उनका परिगणन बौधायन से कुछ भिन्न है – 1. विवाह, 2. गर्भाधान, 3. पुंसवन, 4. सीमन्तोन्नयन, 5. जातकर्म, 6. नामकरण, 7. निष्क्रमण, 8. अन्नप्राशन, 9. चूडाकरण, 10. उपनयन, 11. केशान्त, 12. समावर्तन और 13. अन्त्येष्टि।

वैखानस में अठारह संस्कार बताये गए हैं। स्मृतियों में भी संस्कारों का विवेचन किया गया है। लोक में सर्वमान्य षोडश संस्कार गर्भाधान आदि हैं। उनका परिगणन निम्नवत् किया जाता है – 1. गर्भाधान, 2. पुंसवन, 3. सीमन्तोन्नयन, 4. जातकर्म, 5. नामकरण, 6. निष्क्रमण, 7. अन्नप्राशन, 8. चूडाकरण, 9. अक्षरारम्भ, 10 कर्णवेध, 11. उपनयन, 12. वेदारम्भ, 13 केशान्त, 14. समावर्तन, 15. विवाह और 16. अन्त्येष्टि।

इनमें गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन जन्म से पूर्व के संस्कार हैं। इन संस्कारों का सम्पादन जातक के माता-पिता द्वारा गर्भ की शुद्धि, रक्षा आदि की भावना से किया जाता है। जातकर्म से कर्णवेध तक के संस्कार बाल्यावस्था के संस्कार हैं तथा उपनयन आदि तीन संस्कार शिक्षा से सम्बद्ध हैं। विवाह गृहस्थाश्रम में प्रवेश का संस्कार है तथा अन्त्येष्टि और्ध्वदैहिक संस्कार है जो पुत्र आदि के द्वारा किया जाता है।

8.6 षोडश संस्कार

इकाई के इस अंश में आप इन संस्कारों का परिचय प्राप्त करेंगे।

8.6.1 गर्भाधान संस्कार

जन्म से पूर्व सम्पन्न होने वाले संस्कारों में यह पहला संस्कार है। जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहते हैं–**गर्भः सन्धार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्म नामधेयम्।** वीरमित्रोदयकार इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

निषिक्तो यत् प्रयोगेण गर्भः सन्धार्यते स्त्रिया।
तद् गर्भालम्भनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः।।
अर्थात,

जिस प्रयोग से स्त्री निषिक्त गर्भ को धारण करती है वह कर्म गर्भाधान संस्कार कहलाता है। इस संस्कार के बीज वैदिक काल से ही प्राप्त होते हैं। वहाँ देवताओं से वीर पुत्रों की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गयी है। धर्मशास्त्रकारों का मत है कि कि गर्भाधान संस्कार तभी किया जाना चाहिए जब पत्नी शारीरिक और मानसिक रूप से उसके

लिए तैयार हो। पत्नी के ऋतुस्नान के चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भाधान संस्कार के लिए उचित माना गया है। गोभिल गृह्यसूत्र अशुद्ध रक्त का प्रवाह समाप्त होने के अनन्तर ही गर्भाधान की अनुमति देता है (विरुजा यास्तस्मिन्नेव दिवा)। यह अशुद्ध रक्त प्रवाह प्रायः तीन दिनों तक रहता है, अतः उन दिनों में स्त्री को अपवित्र माना जाता था। इस अवस्था में स्त्री से सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यक्ति को दूषित माना जाता था। वह शुक्र को व्यर्थ करने के कारण ब्रह्म हत्या का दोषी भी माना जाता था – **व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्।**

गर्भाधान के लिए केवल रात्रिकाल ही विहित था। इस संस्कार के लिए दिन का समय निषिद्ध है। इसका वैज्ञानिक कारण दिखाते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि दिन के समय प्राणवायु अधिक गत्मान् होता है। दिन में गर्भाधान करने से अल्पायु, रोगी और शक्तिहीन सन्तति उत्पन्न हो सकती है –

प्राणा वा एते स्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते।
ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।। प्रश्नोपनिषद्, 1/13।।

रात्रिकाल में गर्भाधान करने वाले पुरुष को ब्रह्मचारी ही माना गया है। शास्त्रकारों ने रात्रि की संख्या के अनुसार सन्तति का लिंग भी निर्धारित किया है उनके अनुसार सम संख्या की रात्रि में गर्भाधान करने से पुरुष सन्तति तथा विषम संख्या की रात्रि में गर्भाधान करने से कन्या सन्तति उत्पन्न होती है। गर्भाधान संस्कार को लेकर शास्त्रों मे विशद विचार हुआ है। बहुपत्नीक गृहस्थ के लिए भी विचार किया गया है। महाभारत में नियोग की भी चर्चा है किन्तु स्मृतिकारों ने प्रायः पति को ही गर्भाधान संस्कार का कर्ता माना है।

8.6.2 पुंसवन संस्कार

यह संस्कार गर्भधारण का निश्चय हो जाने पर किया जाता था। पुंसवन का तात्पर्य उस पूजा या अनुष्ठान से है जिसके करने से पुरुष सन्तति का जन्म होता था– **पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमितीरितम्।** उस समय समाज में पुत्र का अधिक महत्त्व था, अतः पुत्र का जन्म देने वाली माता ही समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करती थी। पुंसवन संस्कार के अवसर पर गाये जाने वाले मन्त्रों में भी पुत्र का ही उल्लेख होता था।

वैदिक साहित्य में पुरुष सन्तति की प्राप्ति के लिए अनेक प्रार्थनायें प्राप्त होती हैं। अथर्ववेद में एक प्रसंग में पति-पत्नी के पास जाकर प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार धनुष पर बाण का सन्धान किया जाता है उसी प्रकार तेरे गर्भाशय में पुत्र उत्पन्न करने वाले गर्भ का आधान हो–

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननुजायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जतानां जनयाश्च यान्।। 3/23/3।।
अर्थात,

गर्भधारण के दूसरे या तीसरे महीने अथवा गर्भ का लक्षण व्यक्त होने पर पुंसवन संस्कार करने का विधान है। शौनक का मत है कि यदि तीसरे महीने में गर्भ के लक्षण व्यक्त हो जायें तो तीसरे में अन्यथा चौथे महीने में पुंसवन संस्कार करना चाहिए–

व्यक्ते गर्भे तृतीये तु मासे पुंसवनं भवेत्।
गर्भेऽव्यक्ततृतीये चेच्चतुर्थे मासि वा भवेत्।।

कतिपय आचार्य दूसरे मास से आठवें मास तक पुंसवन संस्कार करने की अनुमति देते हैं। इसमें पारिवारिक प्रथाएँ, कुल के आचार आदि को भी ध्यान में रखा गया है। शौनक के अनुसार इस संस्कार को प्रत्येक गर्भ में करना चाहिए क्योंकि इस संस्कार के समय स्पर्श करने तथा औषधियों के सेवन से गर्भ पवित्र वा शुद्ध होता है। इस संस्कार में दी जाने वाली औषधियों का भी उल्लेख धर्मशास्त्रकारों ने किया है।

8.6.3 सीमन्तोन्नयन संस्कार

प्राग्जन्म संस्कारों में यह अन्तिम संस्कार है। इस संस्कार में गर्भिणी के सीमन्त को ऊपर उठाया जाता है, इसलिए इसे सीमन्तोन्नयन कहते हैं–**सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयन्म्।** इस संस्कार के सम्पादन का मुख्य प्रयोजन दुष्ट शक्तियों से गर्भ की रक्षा था। यह माना जाता है कि रुधिर भक्षण करने वाली दुष्ट राक्षसियाँ पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आती हैं, इसलिए पति को चाहिए कि वह उनको दूर करने के लिए इस संस्कार के माध्यम से श्री का आवाहन करे। इससे जिन स्त्रियों की रक्षा कर दी जाती है, उसे ये राक्षसियाँ हानि नहीं पहुँचा सकतीं –

पत्न्याः प्रथमजं गर्भमत्तुकामाः सुदुर्भगाः।
आयान्ति काश्चिद् राक्षस्यो रुधिरासनतत्पराः।।

तासां निरसनार्थाय श्रियमावाहयेत् पतिः।
सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तामावहति मन्त्रतः।।

यह मनोवैज्ञनिक संस्कार था। गर्भ के पाँचवें महीने में गर्भस्थ शिशु का मानसिक निर्माण आरम्भ हो जाता है। सीमन्तोन्नयन से गर्भिणी प्रसन्न रहती है जिसका प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर भी पड़ता है। इस संस्कार को सम्पन्न करता हुआ पति गर्भिणी को सुन्दर शब्दों से सम्बोधित करता है जिससे उसका प्रसन्न होना स्वाभाविक है। स्वयं पति गर्भिणी के केशों को सजाता सँवारता है, यह भी गर्भिणी की प्रसन्नता का कारण बनता है। शास्त्रों में इस संस्कार को सम्पन्न करने का समय छठाँ या आठवाँ महीना माना गया है किन्तु कतिपय अचार्य जन्म से पूर्व कभी भी करने की अनुमति देते हैं।

8.6.4 जातकर्म संस्कार

यह बाल्यावस्था में सम्पन्न होने वाला प्रथम संस्कार है। इस संस्कार के अन्तर्गत अनेक कर्म विहित हैं जिनमें मेधाजनन, आयुष्य, बल तथा नालच्छेदन प्रमुख हैं। शास्त्रों के अनुसार नालच्छेदन से पूर्व मेधाजनन संस्कार करना चाहिए। यह कर्म बालक को मेधावी बनता है। किसी सुवर्णादि के पात्र में मधु और घृत को मिलाकर सुवर्ण की शलाका से या अनामिका से बालक को चटाना चाहिए। इससे उसकी मेधा शक्ति में वृद्धि होती है। तदनन्तर सद्योजात शिशु का पिता आयुष्यकरण कर्म सम्पादित करे, इससे बालक दीर्घायु होता है। शिशु के बल और स्वास्थ्य के लिए उसका पिता उसका अभिमर्शन करता हुआ उसकी शारीरिक दृढता के लिए प्रार्थना करता है तथा उसकी माता के लिए कल्याण की कामना करता है। जिस स्थल में बालक का जन्म हुआ है, पिता को चाहिए कि वह उसकी भी पूजा करे। माता के स्तनों का प्रक्षालन कर शिशु को दुग्धपान कराये। सूतिका के गृहद्वार पर जल से भरे घड़े तथा अग्नि का

स्थापन करके जातक का पिता उसकी अनिष्ट की शान्ति हेतु प्रार्थना करे तदनन्तर आठ अँगुल छोड़कर नालच्छेद करना चाहिए। नालच्छेद की विधि पूर्णतः सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आश्रित है। यह माना जाता है कि नाल काटने के अनन्तर जन्म अशौच प्रारम्भ हो जाता है, अतः उससे पूर्व मेधाजनन आदि कर्म सम्पन्न कर लेना चाहिए। यह जननाशौच भी दस दिनों तक माना जाता है।

शिशु के जन्म के छठें दिन षष्ठी महोत्सव का भी विधान शास्त्रों मे किया गया है। देवीभागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में षष्ठी को बालकों की अधिष्ठात्री देवी कहा गया है। यह कर्म भी जातकर्म के अन्तर्गत विहित है। यह विश्वास है कि षष्ठी देवी वृद्धमात के रूप में सदैव शिशु की रक्षा करती है।

8.6.5 नामकरण संस्कार

नाम से मनुष्य के समस्त व्यवहार चलते हैं। वह नाम से ही जाना पहचाना जाता है तथा उसके द्वारा किये जाने वाले समस्त शुभ कार्यों में भी नाम की ही हेतु होती है। नाम से ही मनुष्य यश प्राप्त करता है, इसलिए शास्त्रकारों ने नामकरण संस्कार को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है। वीरमित्रोदय में एक श्लोक उद्धृत किया गया है –

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म।।

इसका तात्पर्य यही है कि नाम ही मनुष्य के समस्त व्यवहार का कारण है। केवल लौकिक कार्य ही नाम से सम्पादित नहीं होते, अपितु आध्यात्मिक फल की इच्छा से किये जाने वाले यज्ञ आदि में भी नाम की भूमिका होती है, इसलिए नामकरण समस्त संस्कारों में प्रमुख है। यह संस्कार अतिप्राचीन काल से सम्पादित होता रहा है। वेदों तथा वैदिक साहित्य में अनेक ऋषियों तथा राजाओं आदि के नाम प्राप्त होते हैं, इससे यह स्वयं निश्चित हो जाता है कि नामकरण की परम्परा उस समय विद्यमान थी। श्रुति कहती है – **दशमे अहनि पिता नाम कुर्यात्,** जन्म के दसवें दिन पिता नामकरण संस्कार करे। पारस्कर गृह्यसूत्र में यह निर्णय लिया गया है कि नाम दो अथवा चार अक्षरों का होना चाहिए। नाम व्यंजन से आरम्भ होना चाहिए, इसमें अर्धस्वर भी हो, नाम के अन्त में दीर्घ स्वर अथवा विसर्ग आना चाहिए। कृत् प्रत्यय से युक्त नाम रखने की अनुमति है किन्तु तद्धित प्रत्यय वाले नाम वर्जित हैं। वैजवाप गृह्यसूत्र में नाम के अक्षरों की संख्या के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं दिया गया। वहाँ कहा गया है कि नाम एकाक्षर, द्वयक्षर या अपरिमिताक्षर हो सकता है – **पिता नाम करोति एकाक्षरं द्वयक्षरं त्रयक्षरम् अपरिमिताक्षरं वा।** वशिष्ठ दो या चार अक्षरों का नाम रखने की ही अनुमति देते हैं। वशिष्ठ रेफान्त तथा लकारान्त नाम न रखने की मन्त्रणा देते हैं–**तद् द्वयक्षरं चतुरक्षरं वा विवर्जयेद् अन्त्यलकाररेफम्।** आश्वलायन आदि में नामों की अक्षर संख्या के साथ कुछ गुणों का योग कर दिया है। जैसे प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति के इच्छुक व्यक्ति को दो अक्षरों का नाम रखना चाहिए आदि–**द्वयक्षरं प्रतिष्ठाकामश्चतुरक्षरं ब्रह्मवर्चसकामः** (आश्वलायन. 1/15/5)।

शास्त्रों में केवल पुरुष सन्तति के नामकरण को लेकर विचार नहीं किया गया, बालिकाओं के नामकरण पर भी विचार हुआ है। बालिकाओं के नाम में अक्षरसंख्या विषम हो तथा वह नाम आकारान्त होना चाहिए। बालिका के नाम में तद्धित का प्रयोग अच्छा माना गया है। बलिकाओं के नाम पर शास्त्रकारों ने विशद विचार किया है तथा कहा है कि स्त्री जातक के नाम को उच्चारण में सुखकर, सरल, कोमल, श्रुति मधुर,

मंगलसूचक तथा दीर्घान्त होना चाहिए।

वर्णों के अनुसार भी नामकरण करने की बात पर शास्त्रों में विचार हुआ है। सारांशतः आचार्यों ने चार प्रकार के नाम बताए हैं। जन्म मास के देवता, कुलदेवता तथा लोकप्रचलित सम्बोधन के अनुसार इन नामों की व्यवस्था दी गयी है। यह संस्कार जन्म के दसवें या बारहवें दिन किया जाता है। कुछ आचार्य जन्म के दसवें दिन से दूसरे वर्ष के प्रथम दिन तक नामकरण करने का विधान करते हैं। इस विषय में अन्य और भी मत प्राप्त होते हैं किन्तु दसवें दिन जननाशौच के समाप्त होने पर अथवा अपनी कुल परम्परा के अनुरूप नामकरण करना सर्वोत्तम माना गया है।

8.6.6 निष्क्रमण संस्कार

यह संस्कार जन्म के बाद पहली बार शिशु को घर से बाहर लाने से सम्बद्ध है। बृहस्पति ने इस संस्कार का तात्पर्य बताते हुए कहा है –**अथ निष्क्रमणं नाम गृहात् प्रथमनिर्गमः।** शिशु का घर से प्रथम बार निर्गम हो उसको निष्क्रमण कहते हैं। पारस्कर के अनुसार यह संस्कार जन्म के चौथे महीने किया जाना चाहिए –**चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका, सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।** भविष्योत्तर पुराण में जन्म के बारहवें दिन ही सम्पन्न करने की बात कही गयी है–**द्वादशेऽहनि राजेन्द्र शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।** कुछ आचार्य जन्म से तीसरे महीने भी करने की विधि बताते हैं–

ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्।
चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम्।।

इस संस्कार में जन्म के बाद पहली बार घर से निकलने पर शिशु को सूर्य का दर्शन कराया जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह संस्कार सूतिका गृह से शिशु के प्रथम बार बाहर निकलने पर किया जाता है जो जन्म के बारहवें दिन सम्पन्न होता है। कतिपय आचार्यों के अनुसार शिशु को तीसरे माह सूर्य के तथा चौथे महीने चन्द्र के दर्शन कराना चाहिए। गृह्यसूत्रों में इस संस्कार को सम्पन्न करने का अधिकार माता-पिता को ही दिया गया है किन्तु पुराण तथा ज्योतिष ग्रन्थों के अनुसार जातक का मामा इस संस्कार को करने के लिए अधिकृत है। इसके सम्पादन के विस्तृत विधि-विधान भी प्राप्त होते हैं।

8.6.7 अन्नप्राशन संस्कार

छः या सात मास बाद जातक के शरीर का विकास हो जाने पर उसे भोजन की आवश्यकता प्रतीत होती है। वह इससे पूर्व केवल माता के दूध पर ही अश्रित रहता था। इस अवस्था में शिशु को प्रथम बार अन्न का प्राशन कराया जाता है, यह संस्कार ही अन्नप्राशन कहलाता है। इस संस्कार को करने का सर्वोत्तम समय जन्म के बाद छठाँ महीना माना गया है किन्तु आठवें, नौवें या दसवें माह में भी इसे किया जा सकता है –

जन्मतो मासि षष्ठे वा सौरेणोत्तममन्नदन्नम्।
तदभावेऽष्टमे मासे नवमे दशमेऽपि वा।।

इस संस्कार के समय शिशु को विभिन्न स्वादों से युक्त भोजन का मिश्रण कर चखने के लिए देना चाहिए। कतिपय आचार्य इस अवसर पर मधु और घृत का मिश्रण देने

की भी विधि बताते हैं। मार्कण्डेय पुराण मधु और घी के साथ खीर खिलाने की विधि बताता है। सम्भवतः इसी करण लोक में दूध भात खिलाने की परम्परा चल पड़ी। अन्नप्राशन से सम्बद्ध कर्मकाण्ड का उल्लेख भी किया गया है। यह कर्मकाण्ड विधि सम्बन्धित ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है।

8.6.8 चूडाकरण संस्कार

चूडाकरण संस्कार जातक की दीर्घायु, सुन्दरता तथा कल्याण की कामना से किया जाता है। शास्त्रों के अनुसार चूडाकरण से जातक को दीर्घायु की प्राप्ति होती है तथा इस संस्कार को सम्पन्न न करने से उसकी आयु का ह्रास होता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में कहा गया है– **तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।** आयुर्वेद के अनुसार भी यह संस्कार महत्त्वपूर्ण है। चरक का कथन है कि केश आदि के काटने से आयु, शुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। चूडाकरण के समय केश काटकर किसी देवता को समर्पित किये जाते हैं।

इस संस्कार को जन्म के प्रथम वर्ष के अन्त से लेकर तृतीय वर्ष की समाप्ति तक सम्पन्न करने का विधान है। आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार इसे जन्म से तीसरे या पाँचवे वर्ष में किया जा सकता है। आवश्यक होने पर इसे सातवें वर्ष में या उपनयन के साथ भी किया जा सकता है–

तृतीये पञ्चमे वाऽब्दे चौलकर्म प्रशस्यते।
प्राग्वाऽसमे सप्तमे वा सहोपनयनेन वा।।

अत्रि ने वर्ष के अनुसार इस संस्कार का फल कथन किया है। प्रथम वर्ष में चूडाकरण करने से जातक दीर्घ आयु तथा ब्रह्मवर्चस प्राप्त करता है। तृतीय वर्ष में इस संस्कार के करने से जातक की समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं। जो व्यक्ति पशुधन की कामना रखता हो उसे पाँचवें वर्ष में चूडाकर्म करना चाहिए –

तृतीये वर्षे चौले तु सर्वकामार्थसाधनम्।
संवत्सरे तु चौलेन आयुष्यं ब्रह्मवर्चसम्।।
पञ्चमे पशुकामस्य युग्मे वर्षे तु गर्हितम्।।

युग्म और सम वर्षों मे यह संस्कार नहीं करना चाहिए। तृतीय वर्ष में इस संस्कार का सम्पादन सर्वोत्तम माना गया है। आजकल लोग अपनी कुल परम्परा के अनुसार भी चूडाकरण करते हैं। उनमें भी शास्त्रीय निर्देशों का सन्निवेश देखा जाता है। शास्त्र में शिशु की माता के गर्भिणी होने पर यह संस्कार वर्जित है।

अपनी कुल परम्परा के अनुसार इसमें शिखा आदि रखना चाहिए। शास्त्र शिखा कटवाने की अनुमति नहीं देता। ऐसा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।

8.6.9 कर्णवेध संस्कार

यह संस्कार सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य से सम्बद्ध है। सुश्रुत के अनुसार रोगों से रक्षा तथा आभूषणों के निमित्त जातक का कर्णवेध करना चाहिए – **रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येत्** (शरीर स्थान,16/1)। सुश्रुत अण्डकोश वृद्धि तथा आँतो की वृद्धि को रोकने के लिए कर्णवेध को आवश्यक मानते हैं। इसके सम्पादन का समय भी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट है। बृहस्पति इसे जन्म से दसवें, बारहवें या सोलहवें दिन करने का विधान करते हैं। गर्ग के अनुसार इसे जन्म से छठें, सातवें, आठवें या बारहवें महीने में

किया जाना चाहिए। कुछ आचार्य इसे शिशु के दाँत निकलने से पूर्व करने की विधि बताते हैं।

आचार्यों ने कर्णवेध की सुई पर भी विचार किया है। कर्णवेध के लिए स्वर्ण निर्मित सुई उत्तम मानी गयी है किन्तु अपने सामर्थ्य के अनुसार चाँदी अथवा लोहे से निर्मित सुई का भी उपयोग किया जा सकता है। इस संस्कार को किसी शुभ दिन में सम्पन्न करना चाहिए।

8.6.10 विद्यारम्भ संस्कार

यह शिक्षा से सम्बद्ध संस्कार है। इस संस्कार को पाँचवे या सातवें वर्ष में सम्पन्न किया जाता था। सूर्य के उत्तरायण होने पर किसी भी शुभ दिन इस संस्कार को सम्पन्न किया जाता था। बालक को स्नान के अनन्तर सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित करके उससे गणेश, सरस्वती तथा बृहस्पति आदि की पूजा करायी जाती थी। तदनन्तर गुरू बालक से अक्षरारम्भ कराता था।

विशेष प्रकार की कलम या स्वर्णनिर्मित कलम से बालक फलक पर या चावल पर **"श्री गणेशाय नमः, सरस्वत्यै नमः"** आदि शुभ वाक्य लिखता था। फलक चाँदी या काष्ठ से निर्मित होता था। इस संस्कार को अक्षरारम्भ भी कहते हैं।

8.6.11 उपनयन संस्कार

यह प्राचीनतम संस्कार है तथा शिक्षा से सम्बद्ध है। वैदिक काल में ही इस संस्कार का प्रारम्भ हो चुका था। प्राचीन काल में शिक्षा गुरुकुल में होती थी। ब्रह्मचारी शिक्षा के लिए गुरुकुल में ही निवास करता था। बालक के इस आश्रम को ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे जो लगभग बारह वर्ष की उम्र से चौबीस वर्ष की उम्र तक होता था। भारुचि के अनुसार उपनयन का अर्थ है "ब्रह्मचारी को शिक्षा के लिए गुरु के पास ले जाना",**उप समीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणम् उपनयनम्।** कतिपय आचार्य इस संस्कार को अत्यन्त व्यापक मानते हैं। जिस संस्कार के द्वारा बलक को गुरू, वेद, यम, नियम का व्रत और देवता के सामीप्य के लिए दीक्षा दी जाती थी, वह उपनयन है–

गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च।
देवतानां समीपं वा येनासौ नीयते द्विजः।।

आचार्य का चयन करने के बाद एक मण्डप में समस्त विधि-विधान किये जाते थे। गणेश आदि देवताओं की पूजा के अनन्तर उपनयन की पूर्वरात्रि को बालक के शरीर में हल्दी के द्रव का लेप किया जाता था। उसकी शिखा में चाँदी की अँगूठी बाँध दी जाती थी। उस रात बालक पूर्णतः मौन रहता था। यह विधि उसके द्वितीय जन्म की प्रतीक थी। हल्दी का लेप गर्भ का वातावरण प्रस्तुत करता था तथा पूर्ण मौन उसके भ्रूणत्व का प्रतीक था। आचार्य ने ब्रह्मचारी को पुनः जन्म प्रदान किया है। दूसरे दिन माता-पिता तथा पुत्र एकसाथ भोजन करते थे। भोजन के पश्चात् बालक को मण्डप में ले जाया जाता था, वहाँ मुण्डन के पश्चात् उसे स्नान कराया जाता था। तदनन्तर कौपीन धारण कर बालक अपने आचार्य के पास जाता था और उससे ब्रह्मचारी बनने की इच्छा व्यक्त करता था। आचार्य उसे उत्तरीय प्रदान करते हुए उसे ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार करता था।

आचार्य ब्रह्मचारी को मेखला, यज्ञोपवीत, अजिन तथा दण्ड आदि प्रदान करता था तथा अन्य अनेक कर्मकाण्ड सम्पन्न कराने के बाद उसे सावित्री मन्त्र का उपदेश देता था। ब्रह्मचारी त्रिरात्र व्रत सम्पन्न करने के अनन्तर भूमि में शयन करता था, इस क्रिया से उसमें मेधाजनन की विधि सम्पन्न की जाती थी। शास्त्रों में उपनयन संस्कार की विधि अतिविस्तार से बतायी गयी है। गुरुकुल में ब्रह्मचारियों का जीवन भिक्षाटन पर आश्रित होता था। शिक्षा के समय ब्रह्मचारी समाज पर आश्रित होता था। यह संस्कार आठ वर्ष की आयु में या उसके बाद किया जाता था।

8.6.12 वेदारम्भ संस्कार

इस संस्कार का प्रथम उल्लेख व्यासस्मृति में प्राप्त होता है। यह संस्कार वेदारम्भ के लिए विहित था। इसे वेदारम्भ के लिए स्वतन्त्र संस्कार के रूप में मान्यता दी गयी। उपनयन के पश्चात् किसी शुभ दिन में वेदारम्भ संस्कार किया जाता था तथा अलग-अलग वेद के अध्येता के लिए अलग-अलग विधियाँ सम्पन्न करायी जाती थीं। इस संस्कार के सम्पन्न होने के अनन्तर आचार्य ब्रह्मचारी को वेद का अध्ययन कराना आरम्भ करता था।

8.6.13 केशान्त संस्कार

यह संस्कार गोदान के नाम से भी जाना जाता है। इस संस्कार में ब्रह्मचारी के श्मश्रुओं का सर्वप्रथम मुण्डन किया जाता था। इस अवसर पर आचार्य को गोदान भी किया जाता था इसलिए इसे गोदान भी कहते हैं। यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में सम्पन्न किया जाता था। इस आयु तक ब्रह्मचारी युवावस्था को प्राप्त कर रहा होता था, अतः इस संस्कार के माध्यम से उसे एक बार पुनः ब्रह्मचर्य के व्रतों का स्मरण दिलाया जाता था।

8.6.14 समावर्तन संस्कार

ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर यह संस्कार सम्पादित किया जाता था। इसको स्नान के नाम से भी जाना जाता है। शिक्षा की समाप्ति होने पर ब्रह्मचारी के गुरुकुल से अपने घर के लिए प्रत्यावर्तन हेतु यह संस्कार किया जाता था – **तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनानन्तरं गुरुकुलात् स्वगृहागमनम्।** समावर्तन संस्कार उन्हीं स्नातकों का होता था जो अपने अध्ययन की समाप्ति कर लेते थे तथा समस्त दीक्षित व्रतों का पालन कर चुकते थे।

समावर्तन से पूर्व ब्रह्मचारी को गुरू से अनुमति लेनी आवश्यक थी। विद्यार्थी अपने सामर्थ्य के अनुसार गुरू को दक्षिणा भी प्रदान करता था तथा गुरू की अनुमति से अपने घर आकर वह सवर्ण, सुलक्षणा कन्या से विवाह सम्पन्न करता था –

गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।।

8.6.15 विवाह संस्कार

यह सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार माना जाता है। यह समस्त आश्रमों का मूल है तथा समस्त गृहयज्ञों एवं संस्कारों का उद्गम स्थल है। विवाह स्वयं एक यज्ञ है। पत्नीरहित व्यक्ति को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है –**अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः।** विवाह अतिप्राचीन संस्कार है। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि

विवाह उस समय भी दृढ संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। स्मृतियों में विवाह के आठ प्रकार बताये गए हैं–

ब्राह्मो देवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चौव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच, ये आठ प्रकार के विवाह हैं। इन विवाहों को प्रशस्त तथा अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का माना गया है। ब्रह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य प्रशस्त विवाह हैं तथा शेष चार अप्रशस्त माने गए हैं। ब्राह्म विवाह का शुद्धतम तथा सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रकार है। इसमें कन्या का पिता वस्त्राभूषणों से अलंकृत कन्या को वर को दान करता है। दैव विवाह में कन्या का पिता अपने यज्ञ में पौरोहित्य करने वाले ऋत्विज् को दक्षिणा के रूप में कन्या प्रदान करता था। प्राजापत्य में पिता अपनी कन्या का विवाह उस वर से कर देता था जो स्वयं विवाह के प्रार्थी के रूप में उपस्थित होता था। उन्हें सहधर्मचरण का आदेश भी दिया जाता था। आसुर विवाह में वर कन्या के पिता या सम्बन्धियों को धन प्रदान कर स्वच्छन्दतापूर्वक विवाह करता था। गान्धर्व विवाह का वह प्रकार है जिसमें पुरुष और स्त्री परस्पर निर्णय लेकर विवाह करते हैं। जिस विवाह में पुरुष कन्या के सम्बन्धियों को मारकर रोती बिलखती कन्या को बलात् उठा ले जाता था तथा उससे विवाह करता था, विवाह का वह प्रकार राक्षस कहलाता था। जिस विवाह में वर छल, कपट के द्वारा कन्या पर अधिकार करता था उसे पिशाच कहते हैं। पिशाच सबसे अधम विवाह माना गया है।

इनके अतिरिक्त भी विवाह के अनेक प्रकार प्राचीन काल में प्रचलित थे किन्तु धर्मशस्त्रियों ने उनका उल्लेख नहीं किया। सवर्ण विवाह, अनुलोम विवाह, प्रतिलोम विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि का अस्तित्व भी भारत में प्राचीन काल से था, जिन पर अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है। विवाह की आयु ब्रह्मचर्याश्रम के बाद ही मानी जाती थी किन्तु कालान्तर में यह मान्यता समाप्त होती दिखायी पड़ती है। स्मृतियों तक आते-आते बालविवाह की परम्परा दृष्टिगत होने लगती है।

8.6.16 अन्त्येष्टि संस्कार

यह जीवन का अन्तिम संस्कार है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अन्त्येष्टि का विवरण प्राप्त होता है। किसी शिशु या किशोर की मृत्यु होने पर उसका दाह नहीं किया जाता था। अथर्ववेद में अन्त्येष्टि से पहले शव को स्नान कराने, उसे बैलगाड़ी से श्मशान भूमि ले जाने आदि का वर्णन है। ऋग्वेद में अस्थि संग्रह करने तथा अन्त्येष्टि स्थल में स्मारक बनाने का भी उल्लेख हुआ है। धर्मशास्त्र में अन्त्येष्टि तथा अशौच का विशद वर्णन हुआ है। अस्थिसंचयन, शान्तिकर्म, पिण्डदान, शान्ति आदि पर धर्मशास्त्रियों तथा सूत्रकारों ने विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए अनेक निर्णय दिए हैं।

8.7 मूल्य – सांस्कृतिक मूल्य, नैतिक मूल्य, आध्यात्मिक और व्यवहारिक मूल्य

हिन्दू संस्कारों में प्राचीन संस्थाओं के प्रयोजन और महत्व के मार्ग में अनेक कठिनाइयां आई है। प्राचीन काल के कठोर अनुशासन को समझने के लिए धैर्य नहीं हैं। जो प्राचीन धर्म की महत्वपूर्ण विशेषता थी। उसे अतीत के प्रति समुचित आदर और विकास के प्रति संस्कारों का पूर्णसहानुभूति करनी चाहिए। मोटे तौर से हम संस्कारों

के मूल्यों का दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। पहला वर्ग सरल विश्वास तथा अकृत्रिम मन की सहज सादगी से उच्छिष्ट है। द्वितीय वर्ग कर्मकाण्डीय व सांस्कृतिक है। इसका उद्‌भव सामाजिक विकास और उन्नति की नियामक चेतन–शक्तियों के कारण होता है, जबकि मनुष्य प्राकृतिक आधारों के ऊपर ही विकास का प्रयत्न करता है। दोनों प्रकार के संस्कार अत्यन्त प्राचीन समय से ही समानान्तर रूप से व्यवहत होते रहे हैं, उन्होंने परस्पर एक दूसरे को प्रभावित किया हैं और आज भी वे हिन्दू धर्म में प्रचलित हैं। हिन्दू संस्कारों में आज भी विभिन्न प्रकार के प्रयोजन है–

सांस्कृतिक मूल्य :–

संस्कारों के लोकप्रियता को पूर्णतः स्वीकार करते हुए महान् लेखकों और विधि–निर्माताओं ने उनमें उच्चतर धर्म और पवित्रता का समावेश करने का प्रयास किया है। मनु कहते हैं कि गर्भ होम (गर्भाधान के अवसर पर किये जाने वाले होम आदि) जातकर्म, चूडाकर्म (मुण्डन) और मौज्जीबन्धन (उपनयन) संस्कार के अनुष्ठान से द्विजों के गर्भ तथा बीज–सम्बन्धी दोष दूर हो जाते हैं। उनका यह भी कहना है कि द्विजों को गर्भाधान आदि शारीरिक संस्कार वैदिक कर्मों के साथ करने चाहिए, जो इहलोक तथा परलोक दोनों को पवित्र करते हैं। याज्ञवल्क्य भी इसी विचार की पुष्टि करते हैं। लोगों का विश्वास था कि बीज और गर्भाधान अपवित्र व अशुद्ध हैं और जातकर्म आदि संस्कारों के द्वारा ही इस मल या पाप से छुटकारा पाया जा सकता है। उपनयन संकार समाज और धार्मिक साहित्य में प्रविष्ट होने का प्रवेश–पत्र था। यह भी द्विजों का विशेषाधिकार था और शूद्रों के लिए वर्जित था। विद्यार्थी–जीवन की समाप्ति तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए समावर्त्तन संस्कार का अनुष्ठान करना आवश्यक था। वैदिक मन्त्रों के उपनयन और विवाह–संस्कार से किसी भी व्यक्ति को सभी प्रकार के यज्ञों के अनुष्ठान करने तथा समाज में अपने उन्नयन का अधिकार मिल जाता था।

संस्कारों का अन्य मूल्य स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति था। ''स्वर्ग कामो यजेत'' जब दीर्घसत्रों का चलन नहीं रहा, तो केवल देवों की आराधना और सामान्य यजन ही स्वर्ग–प्राप्ति के अमोघ साधन समझे जाने लगे। संस्कारों को भी जो भी पहले गृह्यकृत्य थे, अत्यधिक महत्त्व प्राप्त होने लगा। हारीत संस्कारों का वर्णन इस प्रकार करते है।

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरनुसंस्कृतः।
नित्यमश्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्राह्मलोकिकः।
ब्राहां पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः।।

ब्रह्म संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति ऋषियों की स्थिति को प्राप्त कर उनके समान हो जाता है और उनके निकट निवास करता है तथा दैव संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति देवों की स्थिति को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि मोक्ष को जीवन का चरम उद्‌देश्य मान लिया गया, अतः संस्कारों का भी स्व है, क्योंकि मोक्ष को जीवन का चरम उद्देश्य मान लिया गया, अतः संस्कारों को भी स्वभावतः उसी की प्राप्ति का साधन समझा जाने लगा। शांखायन लिखते हैं संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्म – गुणों से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक में पहुँचकर ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेता है, जिससे वह फिर कभी च्युत नहीं होता ।

नैतिक मूल्यः–

क्रमकाल से संस्कारों के भौतिक स्वरूप से उनका पार्श्व प्रस्फुटित हुआ । चालीस संस्कारों को गिनाने के पश्चात् गौतम दया, क्षमा, अनसूया, शौच, शम, उचित व्यवहार, निरीहता तथा निर्लोभता– आत्मा के इन आठ गुणों का उल्लेख करते हैं । वे आगे कहते हैं कि 'जिस व्यक्ति ने चालीस संस्कारों का अनुष्ठान तो किया है, किन्तु जिसमें उक्त आठ आत्मगुण नहीं हैं, वह ब्रह्म का सान्निध्य नहीं पा सकता । किन्तु जिस व्यक्ति ने केवल कतिपय संस्कारों का ही अनुष्ठान किया है और जो आत्मा के उक्त आठ गुणों से सुशोभित है, वह ब्रह्मलोक में ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है । किन्तु संस्कारों का अपने–आप में उद्देश्य कभी नहीं माना जाता था । उसमें फल–फूल कर नैतिक सद्गुणों के रूप में परिपक्व हो जाने की अपेक्षा की जाती थी । संस्कारों में जीवन के हर एक सोपान के लिए व्यवहार के नियम (धर्म) निर्धारित हो चुके थे "गर्भिणीधर्माः, अनुपनीतधर्माः, ब्रह्मचारिधर्माः, स्नातक धर्माः" गर्भिणी– धर्म, अनुपनीत–धर्म, ब्रह्मचारि–धर्म, स्नातक–धर्म आदि।

चित्रकर्म यथाऽनेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम्॥

निसन्देह, उनमें अनेक बातें धार्मिक व अन्धविश्वासपूर्ण हैं, किन्तु व्यक्ति के नैतिक विकास के प्रयत्न भी प्रत्यक्ष हैं। संस्कारों का यह स्वरूप निश्चय ही संस्कारों से प्राप्त होने वाले वैयक्तिक हित की अपेक्षा उच्चतर नैतिक प्रगति को सूचित करता है । २१६

आध्यात्मिक मूल्य :–

आध्यात्मिक प्रयोजन की बहुत अधिक विशेषता है और हिन्दू–धर्म का प्रत्येक युग उससे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। हिन्दुओं के इस सामान्य दृष्टिकोण ने संस्कारों को भी अध्यात्म–साधन के रूप में परिणत कर दिया। संस्कारों के आध्यात्मिक प्रयोजन की स्पष्ट व्याख्या करना या उसे लिपिबद्ध करना कठिन कार्य है। यह तो उनका अनुभव है, जो संस्कारों से संस्कृत हो चुके हैं। हिन्दुओं के लिए प्रत्यक्ष अंग–उपांगों की अपेक्षा उनका बहुत अधिक महत्त्व है । उनकी दृष्टि में वे संस्कार व्यक्ति के आन्तरिक व आध्यात्मिक तत्त्वों के बाह्य प्रतीक थे। उनकी दृष्टि संस्कारों के बाहरी विधि–विधान से बहुत दूर चली जाती और वे ऐसा अनुभव करते कि जैसे कोई अदृश्य वस्तु उनके समस्त व्यक्तित्व को पवित्र कर रही हो। इस प्रकार, संस्कार हिन्दुओं के लिए सजीव धार्मिक अनुभव थे, केवल बाहरी उपचार मात्र नहीं।

संस्कार जीवन की आत्मवादी और भौतिक धारणाओं के बीच मध्यमार्ग का काम देते थे। पहले मत के अनुयायी आत्मा की अर्चना और शरीर की अवहेलना करते हैं। शरीर को वे पंचतत्त्वमय संसार की सारहीन वस्तु समझते हैं, जब कि दूसरे मत के अनुगामियों को शरीर के परे कुछ दिखाई ही नहीं देता और वे मनुष्य–जीवन के आध्यात्मिक पहलू को अस्वीकार कर देते है, जिसके फलस्वरूप वे आत्म – शान्ति तथा आनन्द से वंचित रहते हैं । एक ओर शरीर को अनपेक्षणीय व मूल्यवान् वस्तु बनाना तथा दूसरी और इसे परिष्कृत करना संस्कारों का कार्य था जिससे वह आत्मा सुन्दर व पवित्र मन्दिर बन सके और मानव का आध्यात्मिक विकास का उचित माध्यम भी ।

संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते हैं। उनके द्वारा संस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है और

सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएं आध्यात्मिक ध्येय से अनुप्राणित हैं । यहीं वह मार्ग था जिससे क्रियाशील सामाजिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता था । जीवन की इस पद्धति में शरीर और उसके कार्य बाधक नहीं, पूर्णता की प्राप्ति में सहायक हो सकते थे। इन संस्कारों के अनुष्ठान से हिन्दुओं का सामान्य जीवनः जो अन्यथा समय–समय पर होने वालें अनुष्ठानों के बिना पूर्णतः भौतिक बन जाता, वह एक विशाल संस्कार ही बन गया। इस प्रकार हिन्दुओं का विश्वास था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से मुक्त होकर मृत्यु – सागर को पार कर लेंगे। यजुर्वेद के अनुसार " जो व्यक्ति विद्या तथा अविद्या दोनों को जानता है" वह अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेते है।

व्यावहारिक मूल्य :–

हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक कृत्यों और संस्कारों से जिस सांस्कृतिक प्रयोजन का उद्‌भव हुआ, वह था व्यक्तित्व का निर्माण और विकास। अंगिरा चित्रकर्म से संस्कारों की तुलना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने में विविध रंग अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण्य या चरित्र–निर्माण भी विभिन्न संस्कारों द्वारा होता है।

8.8 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने सोलह संस्कारों का संक्षिप्त अध्ययन किया और यह जाना कि संस्कारों की संख्या में अनेक मतभेद होते हुए भी हमारे समाज में सोलह संस्कार प्रतिष्ठित हैं। इन संस्कारों का मुख्य प्रयोजन हमारी मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति है। भारतीय संस्कृति में जीवन का प्रत्येक पक्ष आध्यात्म के लिए ही समर्पित होता है, अतः भारतीय मनीषियों ने जीवन के सर्वांगीण विकास तथा मनुष्य के चारित्रिक निर्माण के लिए संस्कारों की संकल्पना की है। आपने जन्म से पूर्व के तीन संस्कारों के बारे में जाना। शैशवकालीन तथा शिक्षा से सम्बद्ध संस्कारों को भी आपने समझा है। विवाह के आठ भेदों का अध्ययन करने के अनन्तर आपने उनके परस्पर भेदों को भी अच्छी प्रकार से जान लिया है।

आपने जान लिया है कि संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है– संस्क्रियते अनेन, जिससे कोई वस्तु संस्कृत, परिष्कृत, विमल या शुद्ध की जाती है, उसे संस्कार कहते हैं। भारतीय संस्कृति में संस्कारों का अत्यधिक महत्त्व है। मनुष्य की नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए तथा उसमें बल, वीर्य, प्रज्ञा और दैवीय गुणों के आविर्भाव के लिए शास्त्रों में संस्कारों का विधान किया गया है। कोई भी व्यक्ति इन संस्कारों से ही द्विजत्व को प्राप्त करता है। जन्म से प्रत्येक व्यक्ति शूद्र ही होता है किन्तु इन संस्कारों के कारण ही वह द्विज की कोटि में आता है–**जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।** संस्कार का अर्थ है दोषों का परिमार्जन। संस्कार मनुष्य के दोषों को परिमार्जित कर उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थों के योग्य बनाते हैं। शबरस्वामी ने संस्कार शब्द का अर्थ बताते हुए कहा है–**संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कश्चिदर्थस्य।** अर्थात् संस्कार उसे कहते हैं, जिसके सम्पन्न होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य बन जाता है। तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने भी संस्कारों को परिभाषित किया है। उनके अनुसार जो क्रियायें तथा विधियाँ किसी कर्म की योग्यता प्रदान करती हैं, उन्हें संस्कार कहते हैं–**योग्यतां चादधानाः**

क्रियाः संस्कार इत्युच्यन्ते। मेदिनीकोश के अनुसार संस्कार शब्द के तीन अर्थ हैं– प्रतियत्न, अनुभव, मानसकर्म। काशिकावृत्ति में **"उत्कर्षाधानं संस्कारः"** कहा गया है।

इस इकाई के अध्ययन से आपको यह भी ज्ञात हुआ कि समावर्तन जैसे विद्या के संस्कार के बाद स्नातक अपने घर आता था और विवाह करके गृहस्थ धर्म का पालन करता था। समावर्तन में गुरू स्नातक को अनेक उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन में सहायक सिद्ध होते थे।

8.9 शब्दावली

संस्कार – जो हमारे दोषों का परिमार्जन करते हैं

गर्भाधान – वह क्रिया, जिससे पुरुष स्त्री में बीज निक्षिप्त करता है

पुंसवन – गर्भाधान के अनन्तर किया जाने वाला पहला संस्कार

सीमन्तोन्नयन – गर्भिणी का संस्कार विशेष

मेधाजनन – जिस कर्म से जातक को मेधा प्राप्त होती है

अन्नप्राशन – शिशु का संस्कार, जिसमें वह पहली बार अन्न का प्राशन करता है

उपनयन – शिक्षा सम्बन्धी संस्कार विशेष

वेदारम्भ – जिस संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचारी वेदों का अध्ययन प्रारम्भ करता है

राक्षस – विवाह का एक प्रकार

पिशाच – सबसे अधम विवाह

8.10 अभ्यास प्रश्न

1. विभिन्न आचार्यों के मत में संस्कारों की संख्या पर प्रकाश डालिए।
2. प्राग्जन्म संस्कारों का परिचय दीजिए।
3. उपनयन संस्कार के बारे में अपना मन्तव्य दीजिए।
4. विवाह संस्कार को समझाइए।
5. बल्यावस्था के संस्कारों पर निबन्ध लिखिए।
6. कर्णवेध संस्कार की वैज्ञानिकता बताइए।
7. संस्कारों की प्रासंगिकता पर अपने विचार लिखिए।
8. संस्कार का स्वरूप और प्रयोजन स्पष्ट कीजिए।

8.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद।
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, पी. वी. काणे, लखनऊ।
3. हिन्दू संस्कार, राजबली पाण्डेय, वाराणसी।
4. संस्कार प्रकाश, गीताप्रेस, गोरखपुर।

इकाई 9 स्त्रियों की स्थिति (महाभारत अनुशासनपर्व 46/5–11, सभा पर्व 69/4–13, वराहमिहिर की बृहत्संहिता में नारी प्रशंसा अध्याय 74/1–10)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 स्त्रियों की स्थिति

9.2.1 महाभारत अनुशासनपर्व 46/5–11

9.2.2 महाभारत सभापर्व 69/4–13

9.2.3 वराहमिहिर की बृहत्संहिता में नारी प्रशंसा अध्याय 74/1–10

9.3 सारांश

9.4 शब्दावली

9.5 बोध/अभ्यास प्रश्नोत्तर

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप–

- भारतीय समाज में नारी की स्थिति कैसी थी यह जान सकेंगे।
- महाभारत के अनुशासन पर्व एवं सभापर्व में वर्णित नारी की स्थिति के विषय में जान सकेंगे।
- वराहमिहिर विरचित वृहत्संहिता में नारी की प्रशंसा के विषय जान सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई 9 में महाभारत में स्त्रियों की किस प्रकार की स्थिति थी उसी को दर्शाते हुए अनुशासन पर्व एवं सभापर्व के कुछ पद्यों का उल्लेख किया गया है, जिनमें महाभारत कालीन समाज में नारी की दशा एवं स्थिति को दर्शाया गया है। वही इस इकाई में वराहमिहिर की वृहत्संहिता में नारी की प्रशंसा के विषय में जो उल्लेख किया गया है उसका यहां वर्णन किया गया है।

9.2 स्त्रियों की स्थिति

भारतीय समाज में प्राचीन वैदिक काल से ही स्त्रियों की दशा सुदृढ़ रही है। हमेशा से ही इस भारतवर्ष में नारी की पूजा होती रही है। इसीलिए विद्वानों ने "यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमन्ते तत्र देवता" आदि उक्तियाँ कही हैं जिसका अभिप्राय है जहां नारियां पूजी जाती हैं वहां देवता निवास करते हैं। वैदिक समय से ही स्त्रियां पुरुषों की

भांति शिक्षा ग्रहण करती थी। कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था एवं वे वेदों का अध्ययन करती थी। तत्कालीन समाज में कहीं भी बाल विवाह प्रथा नहीं देखी जाती है, और जब कन्याएं युवती हो जाती थी उस समय उनका विवाह किया जाता था। शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात उन्हें स्वयं के लिए योग्य वर देखने का अधिकार था । इस प्रकार से अनेक धार्मिक कृत्यों एवं शिक्षा में पुरुषों के समान ही स्त्रियों को अधिकार प्राप्त थे। उदाहरणरूप में अनेक नाम हैं जो तत्कालीन समाज में प्रसिद्ध हैं। जैसे विश्ववारा, घोषा, निवावरी, सिकता आदि अनेक प्रमाण है। वही वैदिक विदुषियों में मैत्रेयी, गार्गी, सुलभा, कपाला, घोषा वाक्चनवी आदि अनेकों नाम प्रचलित हैं। इसी प्रकार यह परंपरा निरंतर वैदिक काल से लेकर रामायण महाभारत आदि तक प्रवाहित होती चली आ रही है। प्रस्तुत इकाई में हम मुख्य रूप से महाभारत अनुशासन पर्व एवं सभापर्व स्त्रियों की स्थिति तथा वराहमिहिर की बृहत संहिता में नारी प्रशंसा के विषय में यहां उल्लेख करेंगे।

9.2.1 महाभारत अनुशासनपर्व (46/5–11)

पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यञ्जनाधिप।
स्त्रीयो यत्र च पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः ॥ 5 ॥

अर्थात् हे प्रजापति! स्त्रियों का हमेशा आदर–सत्कार करना चाहिए और उनका स्नेह पूर्वक लालन पालन करना चाहिए। क्योंकि –जहाँ स्त्रियों की पूजा की जाती है वहाँ देवता निवास करते हैं।

अपूजिताश्च यत्रैतारू सर्वास्तत्राफलारू क्रियाः।
तदा चौतत्कुलं नास्ति यदा शोचंति जामयः ॥ 6 ॥

जिस घर में स्त्रियों का अनादर होता है अथवा अपूजित रहती हैं, उस घर के सभी कार्य निष्फल हो जाते हैं। जिस कुल में स्त्रियों का शोक–विलाप होता है, वह सम्पूर्ण कुल नष्ट हो जाता है।

जामी शप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया।
नैव भांति न वर्धेते श्रियाहीनानि पार्थिव ।। 7।।

हे पार्थिव ! जिस घर को दुःखी स्त्रियाँ शाप देती हैं , वह घर उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कृत्याओं के नष्ट एवं विच्छिन किये हुए घर होते है। उन सभी घरों की शोभा नष्ट हो जाती है, और वे श्रीहीन हो जाते हैं, उनकी समृद्धि का नाश हो जाता है।

स्त्रियः पुंसां परिददे मतुजिंगयि षुर्दिवम् ।
अबलारू स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः ।। 8।।

स्वर्ग में जाने की इच्छा रखने वाले मनु ने स्त्रियाँ पुरुषों के लिए अर्पित कर दी थीं और कहा कि – स्त्रियाँ बल रहित होती हैं, जो थोड़े से वस्त्रों से संतुष्ट होती है, वे स्नेह से भरी हुई सहृदया होती हैं और सत्य की अभिलाषी होती हैं।

ईर्षवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोबुधारू ।
स्त्रिषस्तु मानगर्हेति ता मानर्यत मानवाः।। 9।।

स्त्रियाँ ईर्ष्या करने वाली होती हैं, मान–सम्मान चाहती हैं, अत्यन्त क्रोधी हैं, स्नेहमय हृदय से युक्त सरल स्वाभाव वाली और अबुध हैं। फिर भी हे मनुष्यों ! वे पूजनीय सत्कार के पात्र हैं इसलिए तुम स्त्रियों का सत्कार करो।

स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रति भोगाश्च केवलाः ।
परिचर्या नमस्कारास्तदायत्ता भवंतु वः।।10।।

स्त्रियाँ ही पुरुषों के धर्म की सिद्धि का आधार है और उनसे ही रति – भोग हुआ करता हैं। तुम्हारी परिचर्या और नमस्कार आदि स्त्रियों के ही अधीन है।।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनय ।
प्रीत्यर्थ लोकयात्रायाः पश्यत स्त्रीनिबंधनम् ।। 11 ।।

पुत्र–पुत्री आदि सन्तान को उत्पन्न करना, उन उत्पन्न हुई सन्तानों का लालन–पालन करना और जीवन यात्रा को प्रीतिपूर्वक चलाना स्त्रियों के अधीन समझना चाहिए ॥

9.2.2 महाभारत सभापर्व (69/4–13)

महाभारत सभापर्व में कौरव और पाण्डवों के मध्य हुई द्यूतक्रीड़ा में पाञ्चाली (द्रौपदी) के साथ कौरवो द्वारा किस प्रकार व्यवहार किया जाता है, उसका उल्लेख निम्न पद्यों में किया गया है जो तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा को चित्रित करता है ।

दुर्योधन पाञ्चाली (द्रौपदी) को कहता है कि –

अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये युधिष्ठिरं तव पांचालि हेतोः।
कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ।। 4।।

हे पाञ्चाली ! यदि आज यह सब श्रेष्ठ आर्यों के सामने कह दे कि धर्मराज युधिष्ठिर द्रोपदी के स्वामी नहीं हैं और युधिष्ठिर ने झूठ से ही तुझे (द्यूतक्रीड़ा में) दांव पर लगाया था। इस प्रकार कहने से तू दासी बनने से मुक्त हो जाएगी।

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा स्वयं चेदं कथय त्विन्द्रकल्पः ।
ईशो वा ते ह्यनीशोऽथवैष वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ।।५।।

सत्य प्रतिज्ञा को धारण करने वाले, धर्मराज के पुत्र युधिष्ठिर इन्द्र के समान सदैव धर्म पर ही अचल स्थिर रहते हैं, यदि यही बता दें की ये तेरे स्वामी है कि नहीं बस इनकी कही हुई बात के अनुसार तू शीघ्र ही एक बात को मान ले।

सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायाँ दुःखान्तरे वर्त्तमानास्तवैव।
न विब्रुवन्त्यार्य्यसत्त्वा यथावत् पतींश्च ते समवेक्ष्याल्प भाग्यान् ।। ६।।

यहाँ सभा में स्थित सभी कौरवजन तुम्हारे दुःखी होने से अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं और यह तेरे पतियों को मन्दभाग्य देखकर यथार्थ सत्य बात को कहने में असहज हो रहे हैं, कहने का साहस नहीं कर पा रहे हैं।

वैशम्पायन उवाच।

ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य वाक्यं सर्वे मशशंसुस्तयोच्चौः
चेलावेधां श्चापि चक्रुर्नदन्तो हाहेत्यासीदपि चौवार्त्तनादः ।। ७ ।।

वैशम्पायन जी कहते हैं कि – कुरुराज दुर्योधन के इन वचनों को सुनकर सभा में स्थित सभी सभासदों ने उसकी बहुत प्रशंसा की और वे सभी सभा में उपस्थित लोग चिल्ला २ कर वस्त्र उछालने लगे फिर दूसरी तरफ हाहाकार का शब्द सुनाई देने लगा।

श्रुत्त्वा तु तद्वाक्यमनोहरं तद्धर्षश्चासीत् कौरवाणां सभायाम् ।
सर्वे चासन् पार्थिवाः प्रीतिमन्तः कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ।।८।।

दुर्योधन के उस मन को अच्छे लगने वाले वचनों को सुनकर सभा में उपस्थित हुए कौरवों को अत्यन्त हर्ष हुआ और वहां स्थित सभी राजाओं ने धर्म की बात कहने वाले उस दुर्योधन की बड़ी प्रशंसा की।

युधिष्ठिरश्च ते सर्वे समुदेक्षन्त पार्थिवाः।
किन्नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः।। 9।।

कौरवों के साथ कौरवों के पक्ष में उपस्थित अन्य राजा युधिष्ठिर की ओर देखते हुए कौतूहल में भरकर प्रसन्नता के साथ कहने लगे कि – अब देखते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिर क्या कहते हैं?

किन्नु वक्ष्यति वीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः।।10।।

तत्पश्चात उत्कंठा से भरे हुए राजा कहने लगे कि यह युद्ध में किसी से न हारने वाले अर्जुन, भीमसेन, नकुल तथा सहदेव देखें ये क्या कहते हैं?

तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोब्रवीदिदम
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दन चर्चितम् ।।11।।

उस राजसभा के शोर–कोलाहल के बन्द हो जाने के पश्चात बृकोदर भीमसेन ने दिव्य सुगन्धित चंदन से युक्त दिव्यमनोहर भुजाओं को उठाते हुए कहा ।। (इसके बाद भीमसेन वचन होते हैं)

9.2.3 वराहमिहिर की बृहत्संहिता में नारी प्रशंसा अध्याय (74/1–10)

जये धरित्र्याः पुरमेव सारं पुरे गृहं सद्मनि चौकदेशः।
तत्रापि शय्या शयने वरा स्त्री रत्नोज्ज्वला राज्यसुखस्य सारः।

पूरी पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी उसमें केवल अपनी राजधानी ही सम्पूर्ण पृथिवी का सार है तथा उस पूरी राजधानी में भी अपना घर ही सार रूप है, अपने पूरे घर में भी अपने रहने का स्थान सार है, अपने रहने के स्थान में भी शय्या (बैड) सार है और उस शय्या पर भी रत्नों से भूषित स्त्री राज्यसुख का परम सार है।

रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या ।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनाङ्गनाङ्गसङ्गम् ।। 2।।

स्त्री रत्नों को भूषित करती है, उसकी शोभा को बढाती है परन्तु स्त्री रत्नों की कान्ति से विभूषित नहीं होती क्योंकि रत्नों के बिना भी स्त्री मन को हर लेने वाली होती है, किन्तु स्त्री के अंगों से युक्त हुए विना रत्न मन को नहीं हर सकता है।

आकार विनिगूहतां रिपुबलं जेतुं समुत्तिष्ठतां ,
तन्त्रं चिन्तयतां कृताकृतशतव्यापारशाखाकुलम् ।

मन्त्रिप्रोक्तनिषेविणां क्षितिभुजामाशङ्किनां सर्वतो ,
दुःखाम्भोनिधिवर्तिनां सुखलवः कान्तासमालिङ्गनम् ।। 3।।

सुख, भय, हर्ष आदि विषयों को छिपाते हुए, शत्रु सेना पर विजय प्राप्ति के लिये यत्न करते हुए, कृत अकृत सैकड़ों व्यापार क्षेत्र की शाखाओं के लिए उत्कण्ठित एवं तन्त्रों को विचार करते हुए, मन्त्रियों के द्वारा बतायी गयी नीतियों का पालन करते हुए, पुत्र आदि से भी शङ्का करते हुए, दुःख रूपी समुद्र में गिरे हुए राजाओं के लिये स्त्री का थोड़ा सा आलिङ्गन मात्र ही सुख देने वाला होता है ।।

श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं स्मृतमपि नृणां ह्लादजननं,
न रत्नं स्त्रीभ्योऽन्यत् क्वचिदपि कृतं लोकपतिना ।

तदर्थं धर्मार्थी सुतविषयसौख्यानि च ततो ,
गृहे लक्ष्म्यो मान्याः सततमबला मानविभवैः ।। 4।।

ब्रह्मा ने इस संसार में स्त्रियों के अतिरिक्त कहीं पर भी ऐसा कोई रत्न नहीं बनाया, जिसके सुनने, स्पर्श करने, देखने या स्मरण करने से ही आनन्द प्राप्त हो सके। लोग स्त्री के लिये धर्म और अर्थ की सेवा करते हैं। स्त्री के द्वारा सन्तति सुख एवं विषय सुख की प्राप्ति होती है तथा स्त्री को ही घर में लक्ष्मी रूप माना जाता है, इसलिए मान–सम्मान तथा वैभवों के द्वारा स्त्री का सदा आदर–सत्कार करना चाहिये ।।

येऽप्यङ्गनानां प्रवदन्ति दोषान् वैराग्यमार्गेण गुणान् विहाय ।
ते दुर्जना मे मनसो वितर्कः सद्भाववाक्यानि न तानि तेषाम् ।। 5।।

जो कोई भी (व्यक्ति) जिसने वैराग्य धारण किया हो, उसके द्वारा स्त्रियों में गुणों को छोड़कर अर्थात स्त्रियों के गुणों को न देखते हुए, केवल दोषों का ही वर्णन करें, तो ऐसा व्यक्ति दुर्जन हैं, ऐसा मेरा अनुमान है। इसलिए उस दुर्जन व्यक्तियों के वचन प्रामाणिक नहीं हो सकते हैं।

प्रब्रूत सत्यं कतरोऽङ्गनानां दोषोऽस्ति यो नाचरितो मनुष्यैः ।
धार्ष्ट्येन पुम्भिः प्रमदा निरस्ता गुणाधिकास्ता मनुनात्र चोक्तम् ।। 6।।

स्त्रियों में ऐसा कौन सा दोष है, जिसको पुरुषों ने पूर्व में कभी नहीं किया अर्थात् पुरुषों ने ही पहले सभी दोष किए हैं, उसके बाद ही स्त्रियों ने उन्हीं पुरुषों से सीखे हैं। पुरुषों ने अपनी घृष्टता से स्त्रियों को जीता क्योंकि स्त्रियों में पुरुषों से अधिक गुण होते हैं। इसी प्रकार से मनु ने भी कहा है ।।

सोमस्तासामदाच्छौचं गन्धर्वः शिक्षितां गिरम् ।
अग्निश्च सर्वभक्षित्वं तस्मान्निष्कसमाः स्त्रियः ।। 7।।

चन्द्रमा ने शुद्ध पवित्रता , गन्धर्वों ने शिक्षित वचन एवं अग्नि ने सर्वभक्षित्व स्त्रियों को दिया है , इसलिये स्त्रियाँ सुवर्ण के समान होती हैं।।

ब्राह्मणा रू पादतो मेध्या गावो मेध्याश्च पृष्ठतः।
अजाश्वा मुखतो मेध्याः स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः ।। 8।।

ब्राह्मण पाँव से, गौ पृष्ठ से, बकरा तथा घोड़ा मुख से शुद्ध पवित्र होते हैं, किन्तु स्त्रियाँ अपने सभी अंगों से पवित्र होती हैं।

स्त्रियः पवित्रमतुलं नैता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।
मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति ।। 9।।

स्त्रियों के तुल्य पवित्र कोई अन्य वस्तु नहीं है, कभी भी स्त्रियां दोष से युक्त नहीं होती हैं, क्योंकि प्रत्येक महीने में उनका स्रवित होने वाला रज उनके पापों का नाश कर लेता है।।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ।। 10।।

जिनका कुल वंश में सम्मान नहीं हुआ है ऐसी अपमानित कुलस्त्रियाँ जिन गृहों को शाप देती हैं, कृत्या से हत के समान चारो ओर से वे गृह नष्ट हो जाते हैं ।।

9.3 सारांश

वैदिक काल से ही भारत में स्त्रियों की दशा सुदृढ़ रही है जोकि उत्तर वैदिक कालीन ग्रंथों में देखने को मिलता है। जैसे महाभारत में अनेक स्थानों पर नारी के गुणों एवं श्रेष्ठ चरित्र का अनेक स्थलों पर उल्लेख प्राप्त होता है यहां महाभारत के मुख्य रूप से दो पर्वों का उल्लेख किया गया है अनुशासन पर्व एवं सभापर्व जिनमें नारी के गुणों एवं उनके उच्च आदर्शों का उल्लेख किया गया है। वहीं आचार्य वाराहमिहिर ने अपनी बृहतसंहिता में नारी की प्रशंसा में अनेक पदों का निर्माण किया जिनमें उनके गुणों एवं उनके व्यवहार तथा श्रेष्ठ चरित्र का वर्णन करते हुए विशेष प्रशंसा की है।

9.4 शब्दावली

पुंसाम	–	पुरुषों के लिए
मेध्या	–	पवित्र
अजा	–	बकरा
सर्वतः	–	सभी ओर से
अम्भ	–	समुद्र
कान्ता	–	स्त्री
क्षिति	–	पृथिवी
स्त्रीनिबन्धनम्	–	स्त्रियों के आधीन

9.5 बोध/अभ्यास प्रश्नोत्तर

1. जिस कुल में नारी अपूजित होती है वह कुल?
   a. वृद्धि को प्राप्त होता है
   b. श्रेष्ठ होता है
   c. नष्ट होता है

2. वृहत्संहिता के अनुसार चन्द्रमा द्वारा स्त्रियों को क्या प्रदान किया गया। ?
   a. कलुषता
   b. शुद्ध / पवित्रता
   c. चंचलता
3. यत्र च पूज्यंते रमन्ते तत्र देवताः " महाभारत के कौन से पर्व का है?
   a. अनुशासन पर्व
   b. सभा पर्व
   c. आदि पर्व

उत्तर– 1. c 2. b 3. a

9.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वृहत्संहिता – वराहमिहिर, टीका सुरेशचन्द्र मिश्र, रंजन पब्लिकेशन, नई दिल्ली।

महाभारत – श्रीपाददामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, बलसाड़, गुजरात।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 10 परिवार और विवाह

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 परिवार और विवाह

10.3 सारांश

10.4 शब्दावली

10.5 बोध/अभ्यास प्रश्नोत्तर

10.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप –

- भारतीय परिवार के विषय में जान सकेंगे।
- विवाह संस्कार के विषय में ज्ञान होगा।
- चार प्रकार के श्रेष्ठ ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विवाहों के विषय में जान सकेंगे।
- चार प्रकार के निम्न आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच विवाहों के विषय में जान सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत 10वीं इकाई में परिवार और विवाह के विषय में बताया गया है। भारतीय सामाजिक परम्परा में परिवार एवं संस्कारों का विशेष महत्व रहा है जिनमें 16 संस्कारों का उल्लेख मिलता है उनमें भी सबसे महत्वपूर्ण संस्कार विवाह संस्कार माना गया है। जो सम्पूर्ण जीवन भर निभाया जाता है और व्यक्ति को उसके वैयक्तिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध कराता है। इस प्रकार से हम यहां विशेष रूप से विवाह संस्कार एवं तत्संबधी परिवार के विषय में जानेंगे।

10.2 परिवार और विवाह

भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही सोलह संस्कारों की परंपरा रही है जिनमें से एक विवाह संस्कार माना गया है यह सामाजिक उन्नत्ति के लिए परम आवश्यक माना गया है। एक ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिए धार्मिक कृत्यों से युक्त पाणी ग्रहण संस्कार अर्थात विवाह संस्कार का विधान बताया गया है। यह विवाह संस्कार जीवन के परम पुरुषार्थों के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण माना गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में विवाह को गृहस्थ जीवन का प्रवेश द्वार माना गया है।

मनुजास्तत्र जयन्तो यतो नागृहधर्मिणः तस्य कर्तुर्नियोगेन संसारो येन वर्धतः।।
(याज्ञवल्क्य 5/97)

विवाह केवल काम तृप्ति और यौन सुख मात्र नहीं है। विवाह परिवार के निर्माण का मूल और प्रधान आधार है। विवाह के पश्चात् व्यक्ति सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्यों का वहन करता है। विवाह शब्द व्याकरणात्मक 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वह्' धातु एवं घञ् प्रत्यय से बना है। अर्थात् जिसका विशिष्ट रूप से वहन किया जाए वह विवाह है। अमरकोश में विवाह के पर्याय रूप में परिणय एवं पाणिग्रहण शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिग्रहण अर्थात (हाथ का ग्रहण करना) पिता अपनी पुत्री का हाथ वर के हाथ में देता है और वर उसे प्रतिग्रहपूर्वक आत्मीयभाव से ग्रहण करता है।

विवाह के उद्देश्यों के विषय में मनुस्मृति में कहा गया है –

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ।। (मनुस्मृति 9/28)

अर्थात धार्मिक कृत्य, संतति प्राप्ति एवं रति का सुख यह विवाह के प्रधान उद्देश्य हैं।

धार्मिक कृत्य – धार्मिक कर्म एवं क्रियाओं को करने के लिए विवाह किया जाता है जिसके अनेक उल्लेख हमें भारतीय संस्कृति परम्परा में देखने को मिलते हैं। वैदिक संहिताओं में यज्ञादि कर्मकाण्ड को जीवन की पद्धत्ति से जोड़ा गया है। यह प्रत्येक मनुष्य को करना आवश्यक था और यज्ञादि कर्म करते समय विवाहिता पत्नी का अपने पति के साथ बैठना परम आवश्यक था। जिस यज्ञ अनुष्ठान में पत्नी की सहभागिता नहीं होती थी उसे अपूर्ण ही माना जाता था। उदाहरण के रूप में रामायण –

रामोपि कृत्वा सौवर्णी सीतां पत्नीं यशस्विनीम ।
ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरचितैः ।। (गोभिल स्मृति 3/10)

रामायण में जब श्री राम अश्वमेध यज्ञ करते हैं उस समय तक सीता निर्वासित हो चुकी थी जिसके कारण यज्ञ करना संभव नहीं था इसलिए श्रीराम ने यज्ञ स्थल में सीता की स्वर्ण प्रतिमा को स्थापित किया तदोपरांत यज्ञ करना प्रारंभ हुआ। देव ऋण, पितृ ऋण तथा ऋषि ऋण आदि से उऋण होना और पंच महायज्ञ जो कि हमारे जीवन के दैनिक कर्त्तव्य धार्मिक कर्म माने जाते हैं वह भी विवाह करने से सिद्ध हो जाते हैं इस प्रकार से विवाह का पहला उद्देश्य धर्म पालन करना है।

पुत्रप्राप्ति – वंश वृद्धि एवं पुत्र प्राप्ति के लिए विवाह करना आवश्यक माना जाता था क्योंकि पुरुष जब तक पुत्र अर्थात प्रजा को उत्पन्न नहीं करता तब तक वह अपूर्ण माना जाता है। उदहारण रूप में शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है–

तस्माद्यावज्जायां न विन्दते,
नैव तावत् प्रजायतेसर्वोहि तावत्। (शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10)

अर्थात जब तक पुरुष पत्नी को प्राप्त नहीं करता, जब तक प्रजा उत्पन्न नहीं करता तब तक वह असर्व है अर्थात अपूर्ण है।

रति – काम प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक प्रकृति है और धर्म पूर्वक आचरण करते हुए रतिक्रीड़ा करना विवाह का एक निम्न उद्देश्य माना गया है ताकि मनुष्य अपनी सबल इन्द्रियों को वश में करके और रति के प्रति लालसा को संकुचित करके जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति करें। धर्मग्रन्थों एवं गृहसूत्रकारों ने वर्ण एवं नीति के अनुकूल समाज

में प्रचलित विभिन्न प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है जो कि आठ प्रकार के माने जाते हैं।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष प्राजापत्यस्तथासुरः।
गांधर्वराक्षसौ चान्यो पैशाचाष्टमो मतः ।। (विष्णु पुराण 3/10/24)

ब्राह्म, प्राजापत्य, देव, आर्ष, गन्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच ये विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं। इनमें प्रथम चार प्रकार के श्रेष्ठ और आदर्श माने गये हैं और अन्तिम चार प्रकार के निन्दित माने गये हैं।

ब्राह्म विवाह

आठ प्रकार के विवाहों में यह सर्वश्रेष्ठ एवं उच्च कोटि का विवाह माना गया है इस विवाह में पिता द्वारा अपनी कन्या को किसी शीलसंपन्न वर को आमन्त्रित कर उसका विधिवत सत्कार करके वस्त्रालंकार से विभूषित अपनी कन्या का विवाह करवाया जाता था। जिसके विषय में मनु ने भी कहा है कि –

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ।। (मनु स्मृति – 3/27)

दैव विवाह

तत्कालीन समाज में दैव विवाह ब्राह्मणों में प्रचलित था वो इसलिए क्योंकि पिता अपनी कन्या के विवाह से पूर्व एक यज्ञ का आयोजन करता था उस यज्ञ को करने में जो ऋत्विज दक्ष होता था और विधिपूर्वक यजन कार्य करता था। ऐसे श्रेष्ठ ऋत्विज को कन्या का पिता अपनी पुत्री का कन्यादान करता था। स्मृतिकार मनु भी कहते हैं कि ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में कन्या को ऋत्विज के लिए कन्यादान करना चाहिए। कहा है –

यज्ञे तु वितते सम्यग् ऋत्विजे कर्म कुर्वते।
आलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्म प्रचक्षते।। (मनु स्मृति – 3/28)

वहीं आपस्तम्भ धर्मसूत्र में भी कहते हैं – दैवे यज्ञतन्त्र ऋत्विजे प्रतिपादयेत्। विशेष रूप से यह विवाह इसलिए किया जाता था ताकि जो ब्राह्मण कर्मकांड करने में निपुण हो एवं अपनी आजीविका चलाने में समर्थ हो ऐसे ब्राह्मण को पिता अपनी पुत्री का कन्यादान करने की इच्छा करता था। इस प्रकार के विवाह को विद्वानों ने श्रेष्ठ एवं देव विवाह कहा गया है।

आर्ष विवाह

आर्ष अर्थात ऋषि जब कन्या का पिता अपनी पुत्री का विवाह किसी ऋषि से करता था उस समय कन्या का पिता उस ऋषि से एक गाय और बैल या फिर दो गाय लेता था। यहां कन्या के बदले गायों का अथवा गायों के बदले कन्या का लेनदेन नहीं था यह गो मिथुन को देना ऋषि की अपनी इच्छा होती थी जो वह कन्या के पिता को स्वेच्छा से देता था। यह केवल धर्म मात्र के लिए था। जैमिनी ने भी इस कर्म को धर्म मात्र के लिए कहा है जैसे **"क्रयस्य धर्म मात्रत्वम् तथा शबर नामो क्रम इति"**। जैमिनि 6.1.15 । वही स्मृतिकार आचार्य मनु भी यही कहते हैं कि कन्या का पिता बर से यज्ञ आदि धर्म विहित कार्य को संपन्न करने के लिए एक अथवा दो गो मिथुन प्राप्त करता था।

एकं गो मिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्या प्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते।। (मनु स्मृति – 3/29)

प्राजापत्य विवाह

यह प्राजापत्य विवाह उस समय आठ प्रकार के विवाह विधियों में सबसे प्रचलित विधि थी। इसमें दोनों कुटुंब वर तथा वधू पक्ष से जो भी सम्मिलित होते थे वह मर्यादा पूर्वक यज्ञ–प्रजापति को सम्मुख कर संतानोत्पत्ति एवं उनके कुशल भरण पोषण के लिए तथा उनके उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने की शपथ लेते थे । इस विधि में पिता द्वारा वर की पूजा की जाती थी तत्पश्चात पिता द्वारा अपनी कन्या का दान किया जाता था और दोनों वर तथा वधू को गृहस्थ जीवन में धर्म आचरण का संकल्प कराया जाता था। प्राजापत्य विवाह में कन्या का पिता नवीन वस्त्र एवं आभूषणों के साथ अपनी कन्या का दान करता था।

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्या प्रदानमभ्यर्च्य प्रजापत्यो विधिः स्मृतः। (मनु स्मृति – 3/30)

आसुर विवाह

आसुर विवाह के विषय में महाभारत में भी कहा गया है कि धन से कन्या को खरीदकर तथा कन्या के सभी सगे संबंधियों को धन का प्रलोभन देकर वर द्वारा जिस विवाह को किया जाता है ऐसा विवाह आसुर विवाह कहा जाता है (महाभारत 13.47.3) ऐसे अनेक विद्वानों का मानना भी है । आचार्य मनु भी यही कहते हैं –

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चौव शक्तितः।
कन्या प्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते।। (मनु स्मृति – 3/31)

और आचार्य याज्ञवल्क्य ने इस विवाह को कन्या की खरीद पर आधारित माना है –

"आसुरोद्रविणादानाद्" याज्ञल्क्य स्मृ० 1.61 ।

इस प्रकार के विवाह में धन की प्रधानता देखी जाती थी। इस विवाह में वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को कन्या का मूल्य धन के रूप में चुकाया जाता था ।

गान्धर्व विवाह

बौधायन का मत है कि जब स्त्री एवं पुरुष प्रेमवश काम के वशीभूत होकर विवाह कर ले तो वह गांधर्व विवाह माना जाता है (सकामेन सकामायां मिथः संयोगो गन्धर्वः 11.6। यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता टस.1.6.5) गन्धर्व उस जाति को कहा जाता था जो पर्वतीय क्षेत्रों में नृत्यगीत में रत रहते थे और जिसमें विवाह स्त्री पुरुष के आपसी सहमति से होते थे। मनु ने गंधर्व विवाह को कामुकतावस वर एवं कन्या का संयोग ही माना।

इच्छया अन्योन्य संयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः। (मनु स्मृ० 3.32)

अनेक विद्वानों की रचनाओं में इनके बहुलता से उद्धरण प्राप्त होते हैं जैसे कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतलम् में दुष्यंत एवं शकुंतला का विवाह भी गंधर्व विवाह हुआ था (अभिज्ञान 3.22) वही (वायु पुराण 2.15) में पुररुवा एवं उर्वशी का प्रेम विख्यात है। वही भवभूति के मालतीमाधव में मालती एवं माधव के गंधर्व विवाह का विस्तृत वर्णन

है। वात्स्यायन ने इसे सर्वश्रेष्ठ एवं सुखद विवाह माना "सुखत्वादबहुक्लेशादपि चावरणादिह। अअनुरागात्मत्वाच्च गान्धर्वः प्रवरो मतः।3.30 । वही बौधायन धर्मसूत्र 1–11.20.16 ने भी इसे श्रेष्ठ माना है। यह विवाह वर अथवा कन्या के स्वच्छंद चरित्र का द्योतक है इसलिए यह गंधर्व विवाह एक प्रेम विवाह या प्रणय विवाह माना गया है।

राक्षस विवाह

जिस विवाह में कन्या का बलपूर्वक अपहरण किया जाए ऐसा विवाह राक्षस विवाह की श्रेणी में आता है। कपट अथवा क्रूरता पूर्वक कन्या का अपहरण करना है राक्षस विवाह माना जाता है अथवा युद्ध एवं संघर्ष तथा शक्ति प्रदर्शन के द्वारा कन्या का अपहरण करना राक्षस विवाह माना जाता है। वही मनु ने इस विषय में कहा है कि कन्या पक्ष वालों को मार कर अथवा उनको घायल करके एवं गृह द्वार तोड़ कर रोती हुई कन्या का बलपूर्वक अपहरण करके लाना राक्षस विवाह कहा जाता है।

हत्वा छित्त्वा च भित्वा च क्रोशंतीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्या हरणं राक्षसो विधिरुच्यते ।। (मनु स्मृ 3.33)

पैशाच विवाह

सभी आठ प्रकार के विवाह में पैशाच विवाह सबसे निकृष्ट माना गया है और निन्दनीय माना गया है। सोती हुई, उन्मत, मदिरापान की हुई अथवा मार्ग में जाती हुई कन्या को जब व्यक्ति काम युक्त होकर अपनाता है तो वह पैशाच विवाह कहलाता है। छल और कपट ये दोनो ही पैशाच विवाह के मूल आधार हैं। इस विषय में मनु ने कहा है –

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोअधमः। 3.34

ऐसा विवाह असभ्य एवं असंस्कृत माना गया है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में आठ प्रकार के विवाह के विषय में उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें प्रथम चार ब्राह्म विवाह, देव विवाह, आर्ष विवाह एवं प्राजापत्य इन चारों को श्रेष्ठ और उत्तम विवाह माना गया है। वहीं गांधर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच यह चारों विवाह धर्म शास्त्रों के अनुसार निकृष्ट माने गए हैं। हमेशा से ही विवाह का उद्देश्य धर्मानुकूल संतानोत्पत्ति एवं वंश परंपरा एवं कुल के वार्धिक्य के लिए रहा है।

10.3 सारांश

विवाह भारतीय समाज में महत्वपूर्ण संस्कार एवं धार्मिक कृत्य माना गया है जो कि गृहस्थ जीवन का प्रवेश द्वार कहा गया है। परिवार एवं वंश के वार्धिक्य के लिए विवाह आवश्यकता रहा इसलिए भारतीय समाज में श्रेष्ठ एवं निकृष्ट जो भी तत्कालीन परिस्थितियों में देखे गए मानवीय कृत्यों के आधार पर ऋषि महर्षियों ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है, जो कि आज भी समाज में हमें देखने को मिलता है। विवाह संस्कार पद्धति व्यक्ति के जीवन में स्थिरता लाने एवं उसके कर्तव्यों का बोध कराने तथा गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के पश्चात उसके सामाजिक दायित्वों का बोध कराने के लिए विवाह संस्कार आवश्यक हो जाता है।

10.4 शब्दावली

आर्ष – ऋषि

गान्धर्व विवाह – प्रेम विवाह

प्रमत्ताम् – उन्मत्त

हत्वा – मारकर

छित्वा – घायलकर

भित्वा – तोड़कर

गो मिथुनं – गायों का जोड़ा

ऋत्विज – यज्ञ करने वाला याज्ञिक

सुतादानम् – कन्यादान/पुत्री का दान

10.5 बोध/अभ्यास प्रश्नोत्तर

1. विवाह कितने प्रकार के होते हैं?
   a. 1
   b. 8
   c. 4
2. गो मिथुन देना विवाह का कौन सा प्रकार है ?
   a. दैव
   b. ब्राह्म
   c. आर्ष
3. विवाहों में कौन श्रेष्ठ विवाह है?
   a. प्राजापत्य
   b. पैशाच
   c. गांधर्व
4. धन देकर कौन सा विवाह किया जाता है?
   a. गांधर्व
   b. राक्षस
   c. आसुर

उत्तर –1 B, 2- C, 3- A, 4- C

10.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- भारतीय संस्कृति – डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल, राजस्थानी ग्रन्थागार, सोजती गेट जोधपुर।
- भारतीय संस्कृति – डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति – डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY